श्रीयशोभद्रश्रेणिग्रन्थाङ्कः-१६

# ❀ कारक-माला ❀

(कारकविवरण-कारकपरीक्षा,
कारकव्याश्रयात्मकपुष्पत्रय-ग्रथिता)

✱

भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यया प्रभाख्यटिप्पण्या च
सहिता।

✱

व्याख्याता :-

पन्यासप्रवरश्रीशुभङ्करविजयजीगणिः

मूल्यम् :- रू. २-५० नवपणाः
(सार्धरूप्यकद्वयम्)

श्रीयशोभद्रश्रेणिग्रन्थाङ्कः—१६

# ❀ कारक-माला ❀

( कारकविवरण—कारकपरीक्षा,
कारकव्याश्रयात्मकपुष्पत्रय-ग्रथिता )

*

कविरत्न-समर्थव्याख्यानकारपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजय-
जीगणिवर--शिष्यरत्न--पन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणिकृत-
भद्रङ्करोदयाख्य-व्याख्यया मुनि-सूर्योदयविजय-
कृत-प्रभाख्य-टिप्पण्या च सहिता ।

*

प्रकाशक :-

शा. लक्ष्मीचन्द कुंवरजी नागडा
माटुंगा, मुंबई—१९

मूल्यम् :- रू. २—५० नवपणाः
( सार्धरूप्यकद्वयम् )

—: प्राप्तिस्थान :—

**सरस्वती पुस्तक भण्डार**
रतनपोल, हाथीखाना,
अहमदाबाद.

**सोमचन्द डी. शाह**
जीवननिवास सामे
पालिताणा ( सौराष्ट्र )

-: प्राप्तिस्थान :-

SHAH KANTILAL VADILAL
No. 1195, JAMALAPUR - SALVINIPOLE
AHMEDABAD

वीर संवत् : २४८७
नेमि संवत् : १२

विक्रम संवत् : २०१७
चैत्र सुद : १३

मुद्रक :

के. सीताराम आल्वा
साधना मुद्रणालय
5 वाँ मेन रोड, गांधीनगर, बेंगलोर - 9.

# प्रकाशकीय

आ "कारकमाला" नु प्रकाशन घणीज रीते अनोखु छे। जेनुं ग्रन्थनी प्रस्तावनामां विद्वान् लेखके विस्तृत दिग्दर्शन कराव्युं छे। ते वाचवानी भलामण छे। जेथी ग्रन्थनी उपादेयता ने प्रकाशननो हेतु समजाशे।

आवा उत्तम ग्रन्थना प्रकाशन करवानी तक आपी प्रस्तुत-ग्रन्थना टीकाकार प. पू. समर्थ व्याख्यानकार कविरत्न पन्यासप्रवर **श्रीयशोभद्रविजयजी** गणिवरश्रीना पट्टधर शिष्यरत्न पन्यासप्रवर **श्रीशुभङ्करविजयजी** गणिवरश्रीए अमोने घणाज उपकृत कर्या छे। तथा ग्रन्थनुं योग्यसंपादन करी आपवा बदल प. पू. मुनिश्री **सूर्योदय** विजयजी महाराज साहेबनो पण अमो घणोज आभार मानीए छीए।

आ प्रकाशनमां एक महानुभाव तरफथी रू. ५०१, मदद मलेल छे। ते बदल तेमने कृतज्ञता पूर्वक धन्यवाद।

व्याकरणना अभ्यासीओने तथा अभ्यास करवा इच्छतां लोकोने आ प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी नीवडशे एवो अमारो विश्वास छे। एटले आ 'कारकमाला' द्वारा कारक विषयक अभ्यासी जिज्ञासुओनी जिज्ञासा पूर्ण थाव एवी शुभाभिलाषा पूर्वक।


प्रकाशक :

**शाह लक्ष्मीचन्द कुंवरजी नागडा**

ठे. :- नागडा मेन्शन, प्लोट नं. ३१९, तैलंग क्रोस रोड,

माटुंगा :: मुंबई - १९

# संपादकीय

आ " कारकमाला " जे पंडितश्री अमचन्द्र ( सूरि ) विरचित 'कारकविवरण', महोपाध्याय पशुपति कृत 'कारकपरीक्षा' तथा कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित द्व्याश्रयमहाकाव्यना 'कारकाधिकार' आदिना संग्रहरूप छे। आ त्रणे प्रकरणग्रन्थो पर प. पू. समर्थ व्याख्यानकार कविरत्न पन्यासप्रवरश्री यशोभद्रविजयजी गणिवरश्रीना शिष्यरत्न समर्थ विद्वान् प. पू. पन्यासश्री शुभंकर विजयजी गणिवरश्री कृत " भद्रङ्करोदया " व्याख्याओ छे !

आ ग्रन्थनुं संपादन कार्य प. पू. गुरुमहाराजे मने सोंप्युं हतुं, त्यारे विषमस्थलो पर टिप्पणी लखवानुं मन थतां, यत् किंचित शक्त्यनुसार पाठांतर साथे 'प्रभा' नामे टिप्पणी रची मुकेल छे। जे अभ्यासी जिज्ञासुओने मार्गदर्शक बनशे।

आ ग्रन्थना संपादन माटे 'कारकविवरण' मूलनी त्रण प्रतिओ प. पू. आगम प्रभाकर मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराज साहेब तरफथी मलेल छे। 'कारकपरीक्षा' नी प्रेसकोपी प. पू. परमोपकारी प्राकृतविद्विशारदाचार्य विजयश्री कस्तूरसूरीश्वरजी महाराज साहेब तरफथी उपलब्ध थयेल छे। आ प्रेसकोपी 'षष्ठी कारक परीक्षा पर्यन्त हती। एटले अमदावाद प. पू. मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराजने जणाव्युं। तेओ श्री मारी विनंतिने ध्यानमां लई, तत्काल प्रथम पत्र सिवाय संपूर्ण 'कारक परीक्षा' नी हस्तलिखित प्रति मोकली आपी हती ने आज प्रतिमां कर्ता तरीके महोपाध्याय पशुपतिना नामनो उल्लेख छे।

प. पू. आचार्यश्रीना पुस्तकनी क० संज्ञा छे। ने पू. पुण्यविजयजी महाराजना पुस्तकनी ग० संज्ञा छे। बन्ने प्रतिओमां घणाज स्थलोए पाठभेद छे। एटलुंज नहीं पण कमां केटलाक पाठ छे ते गमां नथी ने गमां छे ते कमा नथी। तेटलुंय ओछुं होय तेम लेखकोना प्रमादथी थयेल पाठदोषोना कारणे संशोधनमां घणीज मुश्केलीओ हती छतांय प. पू. गुरुमहाराजे अथक महेनत करी परापूर्वनो सम्बन्ध जोडी यथास्थान यथायोग्य संशोधन करेल छे। ने ए रीते संशोधित करेल पाठो ( – ) आवी वर्तुलाकृतिओमां मुकेल छे।

'कारक परीक्षा' ना संपादन माटे तत्काल तेनी हस्तलिखित प्रति मोकली सहायभूत थवा बदल प. पू. मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराजनो हुं घणोज आभारी छुं।

आवा संशोधन, संपादन कार्यमां समये समये उत्साह प्रेरणार परमकृपालु मारा प्रगुरु श्री परमपूज्य पन्यासश्री **यशोभद्रविजयजी** नो घणोज ऋणी छुं। तेमज आ ग्रन्थना संपादनमां योग्य मार्गदर्शन करावी ने ग्रन्थनी समीक्षात्मक प्रस्तावना लखी आपवा बदल विद्वद्वर्य पंडितश्री चन्द्रशेखर झाजीनो आ स्थले आभार मानु तो ते अस्थाने नही गणाय।

प्रान्ते आ ग्रन्थना अध्ययन अध्यापन थी जिज्ञासुओने थोडो पण लाभ थशे तो अमारो आ प्रयास कृतार्थ छे। एज :–

**मुनिसूर्योदयविजय**

# प्रस्तावना

संस्कृत वाङ्मयमें व्याकरणका विशिष्ट स्थान है-इतनाहीं नहीं, आज वह संस्कृतभाषा जाननेका एकमात्र साधन है। दूसरी किसीभी उन्नतसे उन्नत कही जानेवाली भाषाके व्याकरणके अध्ययनसे उस भाषाका ज्ञान नहीं होता। क्योंकि दूसरे कोई भी व्याकरण प्रकृति--प्रत्यय आदि विभागोंके द्वारा शब्दोंका साधन नहीं करते। इसलिये संस्कृतव्याकरणका हीं "व्याकरण" (शब्दका व्युत्पादन करनेवाला शास्त्र) ऐसा नाम सार्थक है। संस्कृत व्याकरणकी इस विशिष्टताको दृष्टिमें रखकर हीं—'**मुखं व्याकरणं स्मृतम्**'=व्याकरण वेदका मुख है-एसा कहकर वेदके छौ अंगोमें इसको हीं प्रमुखता दी गयी है। किसीने व्याकरण नहीं जाननेवालोंको अन्धा कहा है। (**अवैयाकरणस्त्वन्धः**= व्याकरण नहीं जाननेवाला अन्धा है।) और यह कथन यथार्थ है। क्योंकि शब्दोंके अन्तरंगका दर्शन व्याकरणदृष्टिसे हीं सम्भव है। महान् तथा प्रख्यात ज्योतिर्वित् श्रीभास्कराचार्यने अपने **सिद्धान्तशिरोमणि** नामके प्रसिद्ध ग्रन्थमें-'जो वेदका मुख समान व्याकरणशास्त्र जानता है, वह सरस्वतीका सदन ऐसे वेदको भी जानता है तो दूसरे शास्त्रोंके जाननेका क्या कहना?' (**यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यक् ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्?**) इन शब्दोंसे व्याकरणकी महिमा गायी है। तथा आगे व्याकरण जाननेपर हीं कोई दूसरे शास्त्रोंके श्रवणका अधिकार

प्राप्त करता है—ऐसा विधान किया है । स्वजन का **श्वजन,** सकलका **शकल,** सकृत् का **सकृत्**–ऐसा भिन्नार्थक शब्दोंका उच्चारण नहीं हो, इसलिये किसी पण्डितने अपने पुत्रको व्याकरण पढ़नेका उपदेश किया है । (**'यद्यपि बहु नाऽधीषे तथापि पठ पुत्र! व्याकरणम् । स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्** =हे पुत्र! यदि अधिक पढ़ना नहीं है, तो भी व्याकरण पढो, जिससे स्वजन आदि शब्दों का श्वजन आदि न होजाय ।) भावार्थ यह है कि व्याकरणसे अनभिज्ञ लोग शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते । अत: ऊपरके उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि शब्दोंका ज्ञान, अन्यशास्त्रोंमें प्रवेश तथा शुद्ध उच्चारणके लिये व्याकरणका सर्वप्रथम अध्ययन आवश्यक है ।

आज जबकी संस्कृत भाषा बोलचालकी भाषा नहीं रही, इस स्थितिमें संस्कृतवाङ्मय एकमात्र व्याकरणके आधारपर हीं टिका हुआ है, यह निर्विवाद है । इसलिये संस्कृत वाङ्मयमें प्रवेशके लिये व्याकरणका सहारा आवश्यक हीं नहीं, मूलभूत साधन है-यह बात स्वयंसिद्ध है । इस दृष्टिसे हीं लोग सर्व प्रथम व्याकरणके अध्ययन में ही प्रवृत्त होते हैं । इस प्रकार व्यवहारसे भी उपरोक्त बातें प्रमाणित होती हैं ।

इस संस्कृत व्याकरणमें भी कारकका महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह वाक्योपयोगी प्रकरण है । अन्य प्रकरण नाम तथा धातुके आधारसे पदोंकी सिद्धिके लिये उपयोगी हैं । इससे स्पष्ट है कि–कारकके ज्ञानके विना संस्कृत वाक्य अच्छी तरह समझे

या शुद्ध रूपसे बोले नहीं जा सकते। इसलिये कारकका गूढ़ होना भी स्वाभाविक हीं है। ऐसा कहा भी जाता है कि—'**न कण्ठमेति कारकं कठिनम्**'=कठिन–गूढ़ होनेके कारण कारक कण्ठगत नहीं होता है। संक्षेपमें–वाक्योंमें किन परिस्थितियोंमे तथा किस तात्पर्यसे किन विभक्तियोंका प्रयोग हो, तथा कौनसे पद किस कारकमें प्रयुक्त हुए हैं—यह कारकका प्रतिपाद्य विषय है, जिसके जाने विना भाषाका हार्द समझना अशक्य है।

यद्यपि कारकसूत्रोंके ऊपर भिन्न–भिन्न संस्कृत व्याकरणोंमें अनेक टीकायें लिखी गयी हैं। तथा प्रत्येक टीकाकी अपनी-अपनी विशेषता भी है। एवं किसी एक टीकाके अध्ययनसे कारककी सभी विशेषताओंका ज्ञान तथा मनमें उठनेवाली शंकाओंका समाधान नहीं हो सकता, यह समझने योग्य है। इसके साथ यहभी उतना हीं सत्य है कि सभी टीकाओंका अध्ययन दुःसाध्य है। इस आशयसे कारकके संक्षेपसे ज्ञानकेलिये विद्वानोंने कारकको लेकर पृथक्-पृथक् कितनेहीं प्रकरण ग्रन्थभी लिखे हैं। तथापि कारकके सभी रहस्यों का प्रकटीकरण तथा शंकाओंका समाधान किसी एक ग्रन्थसे नहीं हो सकता।

इसलिये इस समयमें संस्कृतभाषाके जिज्ञासुओंके लिये कारकविषयके एक संग्रहात्मक ग्रन्थकी अत्यन्त आवश्यकता थी, जिससे जिज्ञासुओंको संक्षेपमें कारकके रहस्योंका ज्ञान, शंकाओंका समाधान तथा तदनुसार प्रयुक्त वाक्योंके आधारपर कारकका बौद्धिक एवं व्यावहारिक-दोनों प्रकारके ज्ञान हों। इस आकांक्षाकी पूर्ति प्रस्तुत **प्रभाख्य** टिप्पणी तथा **भद्रङ्करोदय**व्याख्यासहित—**कारकमाला**

नामके ग्रन्थके प्रकाशनसे बहुत अंशोंमे हो जाती है—यह बात प्रस्तुत ग्रन्थके अवलोकनसे अपने आप स्पष्ट हो जाती है। इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थकी उपादेयता एवं संग्रहणीयतामें संशयका अवकाश नहीं रहता।

**पुस्तक परिचय :**—प्रस्तुत पुस्तक "**कारकमाला**" में, पण्डित श्री **अमरचन्द्र**कृत '**कारकविवरण**' महोपाध्याय **पशुपति** कृत '**कारकपरीक्षा**' तथा कलिकालसर्वज्ञ श्री **हेमचन्द्राचार्य** कृत **द्व्याश्रयमहाकाव्य**से उद्धृतकर '**कारकद्व्याश्रय**' का समावेश किया गया है। तथा इन तीनों प्रकरणोंके ऊपर पन्यासप्रवर श्री **शुभङ्कर-विजयजी गणिवर** कृत **भद्रङ्करोदया** नामकी व्याख्या तथा इनके शिष्य मुनिराजश्री **सूर्योदयविजयजी** कृत **प्रभा** नामकी टिप्पणी है। इस पुस्तकमें प्रथम दो (कारक विवरण तथा कारकपरीक्षा) प्रकरणोंमें कोष्ठकान्तर्गत पाठों तथा प्रभा टिप्पणीमें दिये गये पाठान्तरोंके देखनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि-हस्त लिखित मूल प्रतिमें लिपिकरके प्रमादसे बहुतसे अशुद्ध पाठ तथा अशुद्धियां थीं। जिसके संशोधनमें व्याख्याकारका श्रम तथा प्रतिभा अवश्य हीं प्रशंसनीय हैं। ग्रन्थ देखनेके बाद मेरी उक्तिका सभी एकमतसे समर्थन करेंगे—इसमें कोई संशय नहीं।

संस्कृत भाषाके व्याकरणोंमें शब्द तथा शैली भिन्न होनेपरभी प्रतिपाद्य विषय समान होनेके कारण सैद्धान्तिक विषयोंमें मतभेद नहीं जैसा हीं है। जैसे, कारक तथा उसके भेदप्रभेदोंके तथा वाक्यार्थोंके विषयमें भाषाका आधार लौकिक होनेके कारण-मत-भेदका अवकाश अल्प होनेसे-सभी एकमत हीं हैं। फिरभी

**कारकविवरणका** सिद्धहेमशब्दानुशासन तथा **कारकपरीक्षाका** प्रधानतया पाणिनीय व्याकरण आधार है । ग्रन्थ देखनेसे ऐसा हीं ज्ञात होता है । कारकविवरणमें द्विकर्मक तथा अधिकरण-कारकके विषयमें यह बात स्पष्टतः ज्ञात होती है । क्योंकि इसमें सिद्धहेमशब्दानुशासनके अनुसार हीं विषयोंका प्रतिपादन है । कारकपरीक्षामें अधिकरणकारकके विषयमें सिद्धहेमशब्दानुशासनके सूत्रका उल्लेख है । परन्तु अन्य सभी सूत्र कारकोंके विषयमें पाणिनीयव्याकरणके हीं उल्लिखित हैं ।

**कारकविवरण :–** यह ७५ कारिकाओंका एक छोटासा ग्रन्थ है । इसमें कारकोंके मुख्यभेदोंका संक्षेपमें स्थूलरूपसे निरूपण किया गया है। जिसके सभी प्रतिपाद्य विषय शब्दभेद होनेपरभी सिद्धहेमशब्दानुशासनकी बृहद्वृत्तिमें विस्तृत रूपमें उपलब्ध हैं । यहां यह ध्यान देने योग्य है कि—कारकविवरणकारने उदाहरणोंकी स्वयं ही कल्पना की है । किसी ग्रन्थसे नहीं लिये है। इस ग्रन्थके अन्तमें समाप्तिकी पुष्पिकामें कर्त्ताके रूपमें पण्डित अमरचन्द्रका उल्लेख है । किन्तु ग्रन्थके आदिमें अथवा अन्तमें ग्रन्थकारका कोई उल्लेख नहीं है । मंगल तथा प्रशस्ति भी नहीं हैं । पण्डित अमरचन्द्र कृत अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं । आचार्य श्री चन्द्रसागरसूरि सम्पादित सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-प्रथम विभागमें पण्डित अमरचन्द्रकृत–'स्यादिशब्दसमुच्चय' वृत्तिसहित मुद्रित उपलब्ध है । जिसमें आदिके श्लोकमें हीं "पण्डित अमरचन्द्र" इसप्रकार ग्रन्थकर्त्ताने अपने नामका उल्लेख किया है । ऐसा कुछ इस (कारकविवरण) ग्रन्थमें नहीं है—यह ऊपर कहा जा चुका

है । अध्यापक भोगीलाल ज० सांडेसरा, एम. ए., द्वारा गुजराती भाषामें लिखित 'वास्तुपालनुं विद्यामण्डल अने बीजा लेखो' इस नामके पुस्तकमें अमरचन्द्रसूरिकृत अनेक ग्रन्थोंका उल्लेख तथा उक्त सूरिका विस्तृत परिचयभी है । जिज्ञासुओंसे उस पुस्तकके अवलोकनकी प्रार्थना है । इससे यह बातभी स्पष्ट है कि उक्त सूरि वास्तुपालके समकालीन (तेरहवीं सदीके उत्तरार्ध तथा चौदहवीं सदीके पूर्वार्ध) थे । यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त पुस्तकमें उक्त सूरिकृत कारकविवरणका उल्लेख नहीं है । उक्त पुस्तकमें उद्गीत उक्तसूरिकी प्रतिभाकी यशोगाथाको ध्यानमें रखते हुए तथा इस कारकविवरणकी रचनाको देखते हुए इसके कर्त्ता पण्डित अमरचन्द्रके विषयमें उक्त अमरचन्द्र सूरिसे भिन्न होनेका संशय होता है । किन्तु साधनके अभावसे इस विषयमें किसी निश्चय पर पहुंचनेका भार संशोधकोंके उपर छोड़नेमें हीं सुरक्षा है । ऐसा भी होसकता है कि यह कारकविवरण उनकी प्राथमिक रचना हो ।

**कारकविवरणभद्रङ्करोदया :**— कारकविवरणकी भद्रङ्करोदया नामकी व्याख्या वास्तवमें कारकविवरणकी कारिकाओंको निमित्त बनाकर कारकरहस्योंके विवेचनका एक सफल प्रयास है—ऐसा कहना कोई अत्युक्ति नहीं । इस व्याख्यामें कारकका स्वरूप उनके भेदप्रभेदोंके स्वरूप आदिका मध्यमरूपसे प्राञ्जल एवं मार्मिक विवेचन कियागया है । तथा द्विकर्मक धातु, प्रयोज्यकर्म, 'कृतपूर्वी कटम्' आदि स्थानोंमें व्याख्याकारकी स्वतन्त्र विचारसृष्टि प्रशंसनीय, मननीय एवं हृदयग्राह्य है । तथा प्रत्येक कारकके अपने प्रकरणमें हीं उपपद विभक्तियों, अर्थविशेषमें होनेवाली विभक्तियों

क्रियाविशेषके योगसे होनेवाली विभक्तियोंका सोदाहरण श्लोकबद्ध-रीतिसे प्रतिपादन तथा परिशिष्टरूपमें एकहीं विषयमें होनेवाली अनेक विभक्तियोंकाभी यथाक्रम सोदाहरण श्लोकबद्ध प्रतिपादनसे व्याकरणसूत्रोंके पृथक् पढ़नेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है। तथा उदाहरण वाक्यभी शिक्षाप्रदरूपसे लिये जानेके कारण कारकके साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञानभी प्राप्त हो-इसका ध्यान रखा गया है। इस प्रकार व्याख्याताके श्रममें सोनेमें सुगन्धवाली कहावत चरितार्थ होती है। कारकविवरणके स्थलोंकी पदव्याख्यामें भी व्याख्याताकी व्याख्या करनेकी योग्यता विलक्षण रूपसे प्रगट है। **प्रभा** टिप्पणीभी व्याख्याके आशयों तथा विषम श्लोकोंका स्पष्टी-करण करनेसे तथा पाठान्तर आदिका संग्रह करनेसे वाचकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी हुई है। इन सब बातोंसे ऐसा कहना कोई असंगत नहीं कि प्रभानामकी टिप्पणी तथा भद्रङ्करोदया व्या-ख्या सहित कारकविवरण पुस्तक वाचकोंको कारकविषयक अनेक पुस्तकोंके अवलोकन तथा अभ्यासके श्रमसे मुक्त करनेमें सर्वथा समर्थ है। इसप्रकार इसकी उपादेयता बढजाती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

**कारकपरीक्षा :**—कारकपरीक्षा नामका ग्रन्थ **महोपध्याय पशुपति** कृत है तथा गद्यात्मक है। इसमें कारकोंके अर्थों तथा उसके विषयमें स्वाभाविक रीतिसे हीं मनमें स्फुरित होनेवाली आ-शङ्काओंका समाधान-पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके रूपमें—सरल शैलीसे किया गया है। प्रथम, प्रत्येक कारकका क्रमशः पृथक् पृथक् निरूपण करतेहुए उस उस कारकके विषयमें पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष किए गये

हैं। जिसमें अधिकरण कारकका सामान्यतः भेदोंका उल्लेख है। किन्तु उसके विषयमें कोई परीक्षा नहीं की गयी है। बादमें, वाक्यमें रहनेवाले कारकसमुदायके विषयमें परीक्षा की गयी है। अन्तमें वाक्यमें क्रियाके अध्याहारकी परीक्षा की गयी है। जो ज्ञातव्य एवं मननीय है। इस परीक्षाके अवलोकनसे कितनी हीं नवीन बातें जाननेको मिलती हैं। कारकके विषयमें इसप्रकारके पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष ऐसी व्यवस्थित रीतिसे अन्य ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं हैं। इन सब बातोंको देखते हुए निःसंकोच रूपसे ऐसा कहा जासकता है कि-कारकके विषयमें इसप्रकारके विचारोंसे युक्त अपने ढंगका यह आकारमें छोटा होतेहुए भी एक महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ है। इन सभी कारणोंसे हीं सिद्धहेमशब्दानुशासन **लघुप्रक्रियाकी** स्वोपज्ञ **हेमप्रकाश** टीकामें **विनयविजयजीगणि**ने कारकप्रकरणमें कारकपरीक्षाका नामोल्लेखपूर्वक तथा नामका उल्लेख किए विनाभी इस ग्रन्थके सन्दर्भोंको उद्धृत किया है। तथा उसके आधारपर कितनीहीं शंकाओंका समाधानभी किया है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता **महोपाध्यायपशुपति**का परिचय तथा उनके काल आदिके निर्णयका कोई साधन उपलब्ध नहीं। किन्तु इस ग्रन्थसे उनकी महान् विद्वत्ता एवं उत्कृष्ट प्रतिभाका परिचय तो प्राप्त होजाता हीं है। प्रस्तुत ग्रन्थमें उद्धृत कारिकायें अधिकतर भर्तृहरि की हैं। एक स्थानमें मण्डन (पाठान्तर-मदन) मिश्रका उल्लेखकर कारिका उद्धृत है। तथा अन्य अनेक कारिकाओंका मूल अज्ञात ग्रन्थ हीं हैं। जिससे भी ग्रन्थकर्त्ताकी व्यापक विद्वत्ताका समर्थन होता है।

यद्यपि इस ग्रन्थमें विषयोंका सरल शैलीसे प्रतिपादन किया गया है। तथापि बोलचाल जैसी भाषाका व्यवहार होनेसे बहुत स्थानोंमें अर्थोंका अध्याहार, वाक्योंकी विलक्षण रचना तथा कहीं कहीं अत्यन्त संक्षिप्त एवं रहस्यपूर्णरीतिसे समाधान आदिके कारण कितने हीं स्थान तथा कितनी हीं उद्धृतकारिकाओंकी व्याख्या नहीं होनेसे दुरूहभी है। परन्तु भद्रङ्करोदया व्याख्यासे इन सभी स्थानोंपर उत्तमरीतिसे स्पष्टीकरण हो जाता है। प्रायः लोग ऐसा कहते देखेजाते हैं कि अधिकतर व्याख्याता सरल एवं सुगम विषयोंपर विस्तृत एवं कठिन व्याख्या लिखते हैं, किन्तु कठिन स्थानोंको-जिसकी व्याख्या अपेक्षित होती है-सरल जानकर छोड़ देते हैं। प्रस्तुत व्याख्या उपरोक्त आरोपसे अस्पृष्ट है। क्योंकि विषम स्थलोंपर हीं विशेष कर व्याख्या की गयी है। यह भी इस व्याख्याकी एक अनुकरणीय एवं आदरणीय विशेषता है। इतना हीं नहीं, व्याख्याकारने यहांभी स्थान-स्थानपर अपनी प्रतिभाका उत्तम उपयोग किया है तथा स्वतन्त्र रूपसे विचारभी किया है। जिसकी प्रशंसा किये विना नहीं रहा जासकता।

**कारकद्व्याश्रय**:-यह प्रकरण १०९ श्लोकोंका है। ये श्लोक कलिकालसर्वज्ञश्री **हेमचन्द्राचार्य** कृत **द्व्याश्रयमहाकाव्य** से लेकर यहाँ संगृहीत कियेगये हैं। उक्त महाकाव्यके द्वितीयसर्गके अन्तके ३२ श्लोक तथा शेष ७७ श्लोक तृतीयसर्गके प्रारम्भके लिये गये हैं। जो कारकका व्यावहारिकज्ञान सुलभ करानेकी भावनासे प्रेरित है, यह स्पष्ट है।

यद्यपि सम्पूर्ण द्व्याश्रयमहाकाव्यकी अभयतिलकविजयजी गणि-कृत व्याख्या उपलब्ध है। जो खण्डान्वयके आधारपर की गयी है तथा उत्तमभी है। फिरभी इन १०९ श्लोकोंकी भद्रङ्करोदया व्याख्याकी अपनी विशिष्टता है। यह व्याख्या दण्डान्वयके आधार पर की गयी है। अतः जिज्ञासुओंकेलिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल एवं सुगम है। संक्षिप्त होते हुए भी यह व्याख्या श्लोकोंके अर्थके स्पष्टीकरणमें सरल एवं उदार है। यथावसर अलंकार, ध्वनि आदिका विवरण करनेके कारण इस व्याख्याका महत्त्व एवं उपादेयतामें वृद्धि हुई है। **प्रभा** टिप्पणीमें किस पदमें किस अर्थके आधारसे कौनसे कारक तथा विभक्ति हैं—इसका संक्षेपमें स्पष्टीकरण किया गया है, जो कारकविवरणकी भद्रङ्करोदयाव्याख्याके आधार पर है। जिसके द्वारा कारकके मूलसूत्रोंकोभी समझा जासकता है।

**व्याख्याकार :—भद्रङ्करोदया** व्याख्याके कर्त्ता, प्रख्यात व्याख्याता कविरत्न पन्यासप्रवरश्री **यशोभद्रविजयजी** गणिवरके शिष्य पन्यासश्री **शुभङ्करविजयजीगणि** हैं। आप न्याय-व्याकरण-साहित्य तथा आगमिक विषयोंके परिशीलनसे प्राप्त ज्ञानसे समाजमें लब्धप्रतिष्ठ हैं। उपरोक्त व्याख्याके द्वारा आपके व्याख्या करनेकी अपूर्व योग्यता एवं विलक्षण प्रतिभाका उदार एवं असन्दिग्ध परिचय प्राप्त होता है। ऐसा कहा जासकता है कि आपने इन व्याख्याओंके द्वारा अपनेको एक सफल व्याख्याताके रूपमें प्रस्तुत किया है। आप अन्य अनेक ग्रन्थोंका गुर्जरभाषानुवाद तथा संस्कृत व्याख्या करचुके हैं, तथा सम्प्रति भी ज्ञानके आराधन एवं वितरणमें सोत्साह दत्तचित्त होकर प्रवृत्त हैं। आशा है, आपके ज्ञान,

प्रतिभा तथा परिश्रमका इसप्रकार हीं जिज्ञासुओंको उत्कृष्ट लाभ मिलता रहेगा ।

**टिप्पणीकार :**— **प्रभा** नामकी टिप्पणीके कर्ता मुनिराजश्री **सूर्योदयविजयजी** उपरोक्त व्याख्याकार पन्यासश्री **शुभङ्करविजयजी** गणिके शिष्य हैं । आपने अल्प समयमें हीं व्याकरण, न्याय आदि का अच्छा अभ्यास किया है । जिनका प्रमाण इस पुस्तककी प्रभा नामकी टिप्पणी हीं है । इस आधारपर ऐसी आशा करना सर्वथा उचित हीं है कि आप आगे और भी अच्छी सफलता प्राप्त करेंगे तथा इसप्रकारके लोकोपयोगी कार्योंमें प्रवृत्त रहेंगे ।

अन्तमें जिज्ञासुओंसे शुभभावनापूर्वक यह निवेदन है कि— वे अन्य अनेक कारकप्रकरणोंके अवलोकनके प्रलोभनमें समय तथा श्रमका व्यय नहीं करके **प्रभा** टिप्पणी एवं **भद्रङ्करोदया**व्याख्या सहित **कारकमाला** के अवलोकनमें हीं अपनी शक्ति, श्रम तथा समयका सदुपयोग करें । एक स्थानमें यथेष्ट अर्थ लाभ हो तो अनेक स्थानोंमें हाथ पसारनेकी क्या आवश्यकता ? । विश्वासपूर्वक यह कहा जासकता है कि—मधुच्छत्ररूप इस एक पुस्तकसे हीं नाना पुस्तकरूपी पुष्पोंके भावरूप रसोंका गुण अवश्य हीं प्राप्त किया जासकता है । विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि हाथ कंगनको आरसीसे क्या प्रयोजन ? इति ।

शक सं. १८८३ **पं. श्री चन्द्रशेखरझा**
रामनवमी ( शनिवार ) लदौरा ( दरभंगा )

॥ ॐ अर्हं नमः ॥

श्री नेमि-विज्ञान-कस्तूरसूरि-पन्यासश्रीयशोभद्रसद्गुरुभ्यो नमः ।

पण्डितश्रीअमरचन्द्रकृतं

# कारकविवरणम्

भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्यया प्रभाख्यटिप्पण्या च विभूषितम् ।

—०—

**कारकाणि कर्त्ता कर्म करणं सम्प्रदानकम् ।**
**अपादानमाधारः षट् स्युः सम्बन्धस्तु [1] सप्तमम् ॥ १ ॥**

—०—

रागद्वेषाऽजगरवदने क्रीडया सम्प्रविष्टा-
नाभीराऽर्भानिव करुणया मानवांस्तद्विदाद्य ।
गोपायन्तं सुरनरनुतं ज्ञानिनां गौरवाऽर्हं
सेवन्तां द्राक् स्वहितमतयः 'श्री-पतिं' **वर्धमानम्** ॥ १ ॥

---

सन्तु जिनाः सुध्याताः सद्यो यत्सेवया सुगतिः ।
गुरवः सदा दयन्तां सद्बुद्धिः प्रसादाद् येषाम् ॥ १ ॥
पठतां पथि पान्थानां पाथेयमिव टिप्पणीम् ।
सूर्योदयः प्रभां नाम वितनोति यथामति ॥

१ सप्तम इति क. ग. पाठः । स तु 'कारकाणी' ति क्लीबविशेष्याऽनन्वयापत्त्योपेक्षितः ।

**नेमिं** शासनसम्राजं **विज्ञानं** शान्तमूर्तिकम् ।
सिद्धान्ताऽब्धिं च **कस्तूरं** गुरून् सूरीन् सदा भजे ॥ २ ॥
वाक्सुधासिक्तजनताऽऽराममारादुपास्महे ।
गुरुं गणिं **यशोभद्रं** पन्यासाऽऽकाशसन्मणिम् ॥ ३ ॥
स्मरामि शाब्दिकान् प्राचो निशि दीपान् वचस्त्विषः ।
यदाश्रयेण गच्छन्ति मादृशास्तत्त्वपद्धतिम् ॥ ४ ॥
**सूर्योदया**ऽऽह्वशिष्याऽभ्यर्थितः **शुभङ्करः** सोऽहम् ।
**कारकविवरणटीकां** भद्रङ्करोदयाऽभिख्यां कुर्वे ॥ ५ ॥

**कारकाणीति** । कारकं हि स्वपराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्त्तिका द्रव्यनिष्ठा शक्तिः । द्रव्यस्य हि कारकत्वे वह्न्यादेः कारणस्य सत्त्वदशायां मण्यादिना दाहादेः प्रतिबन्धो न स्यात् । शक्तेस्तत्त्वे तु प्रतिबन्धकेन मण्यादिना तन्नाशाद्भवति दाहादिप्रतिबन्धः ।

यद्यपि मण्यादिशक्तेरेवैवं दाहानुकूलशक्तिनाशकत्वम्, शक्तेरेव कारकत्वादिति मण्यादीनां प्रतिबन्धकत्वप्रवादोऽनुपपद्यते, तथापि शक्तिशक्तिमतोरभेदमाश्रित्यैव मण्यादेस्तादृशप्रवादो वह्न्यादे र्दाहकत्वादिप्रवादश्चेति बोध्यम् ।

अत एव " सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये " इति पाणिनीयसूत्रे *द्रव्यस्य कारकत्वपक्षे 'ऽद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ते' त्यादा*-विदंपदवाच्यस्य द्रव्यस्य क्त्वातृप्रत्ययार्थस्यैक्यात्कारकद्वयाऽभावान्मध्यव्यपदेशाऽयोगात्सप्तमीपञ्चम्योरप्राप्त्या तदुपपादनायोक्तस्य 'क्रियामध्य इति वक्तव्यमि' तिवार्तिकस्य प्रत्याख्यानायोक्तम् भाष्ये--' नान्तरेण

साधनं क्रियायाः प्रकृति भवति, क्रियामध्ये च कारकमध्यमपि भवति, तत्र कारकमध्य इत्येव सिद्धमि' ति । तत्र साधनं शक्तिः, सा च द्रव्यैक्येऽपि कालभेदेन भिन्नेति मध्यव्यपदेशस्य सूपपादत्वाद्वार्तिकं नाऽऽरम्भणीयमिति तद्भावः ।

१ अनभिहिते' इति पाणिनीयसूत्रेऽपि च— 'किं पुनः साधनं न्याय्यम् ?, गुण इत्याह, कथं ज्ञायते ? एवं हि कश्चित्पृच्छति क्व देवदत्त इति ? स तस्मायाचष्टेऽसौ वृक्ष इति । कतरस्मिन् ?, यस्तिष्ठति । स वृक्षोऽधिकरणं भूत्वाऽन्यशब्देनाऽभिसम्बध्यमानः कर्ता सम्पद्यते । द्रव्ये साधने यत्कर्म कर्मैव स्याद्यत्करणं करणमेव यदधिकरणमधिकरणमेवे' ति ।

कैयटेन च—यदि द्रव्यं साधनं स्यात्तदा तस्यैकरूपत्वात्तन्निबन्धनाऽबाधितप्रत्यभिज्ञाविषयत्वान्नानाऽर्थक्रियाकारणनिबन्धनो 'घटेन जलमाहर, घटं कुरु, घटोऽस्ती' त्यादिव्यपदेशो न स्यात्, २ दृश्यते चाऽसौ, तस्मान्नानाशक्तिभावाऽवगमः सिद्ध इति तद्विवृतम् । शक्तिस्तत्त्वाऽभावे तु तद्विरोधः स्पष्ट एव ।

परे तु शक्तिविशिष्टतया द्रव्यस्यैव कारकत्वम्, अन्यथा-

---

१ 'साधनशब्दस्य शक्त्यर्थत्वमप्रसिद्धम्, किन्तु साधनं कारकमित्येव प्रसिद्धमिति नैतद्भाष्येण शक्तिःकारकमिति लभ्यते' इत्याशङ्कां निराकरिष्णुरिह भाष्ये साधनपदं शक्तिपरमित्यत्र- 'अनभिहिते' इति सूत्रस्थं भाष्यं कैयटं च प्रदर्शयन्नाह—अनभिहिते इत्यादि ।

२ दृश्यते इति । इष्ट इत्यर्थः ।

द्रव्यस्य शक्तेश्च पृथक्कारणत्वाऽपत्तिरिति द्रव्यस्य कारकत्वादिप्रवादो नाऽनुपपन्न इत्याहुः।

न च वह्निमण्यादेस्तथा स्वभाव एव, येन दाहतत्प्रतिबन्धादिरिति वाच्यम्। शक्तेरितरथाऽनिर्वचनीयतया कथञ्चित्स्वभावरूपाया एव तस्या अङ्गीकारौचित्यात्। किन्त्वयं शक्तिलक्षणः स्वभाव उत्पादविनाशशालीति कथञ्चिद्भिन्नोऽपीति विशेषः। एवं च वह्न्यादेर्दाहादौ विधातव्ये शक्तेरेव द्वारता, अन्यथाऽचेतनतया तस्य कारकत्वमेव विलुप्येत। करोतीति कारकमित्यन्वर्थव्युत्पत्त्याऽऽश्रितव्यापारस्यैव कारकत्वसिद्धान्तात्। [1]अन्यथा हेत्वादेरपि कारकत्वाऽऽपत्त्या 'विद्ययोषित' इत्यादौ "कारकं कृते" ति समासापत्तेरिति स्पष्टं बृहद्वृत्तौ हैम्यामित्यवधेयम्।

तत्र यत्र व्यापारविशेषविवक्षा, तानि कारकाणि षडित्याह—**षट्स्युरिति**। यत्र च व्यापारसामान्यविवक्षा, तत्र तात्पर्यतः सम्बन्धमात्रमेव विवक्षितं भवतीति सम्बन्धोऽपि कारकमेवेत्याह—**सम्बन्धस्त्वित्यादि**। एतद्विशेषद्योतनायैव **तुना** तस्य पृथगुक्तिरित्यवगन्तव्यम्। **सप्तममिति**। अत्र कारकाणीति विशेष्यं विभक्तिविपरिणामेनाऽन्वेतीति बोध्यम्।

न चैवं 'षष्ठ्याः कारकत्वं नास्ती' ति प्रवादो विरुध्यते, षष्ठ्याः सम्बन्धे विधानात्, तस्य च भवता कारकत्वस्वीकारादिति वाच्यम्। तादृशप्रवादस्य व्यापारविशेषविवक्षाऽभावमूलकतयैव कथ-

[1] अन्यथेति। अनाश्रितव्यापारस्याऽपि कारकत्व इत्यर्थः।

श्चित्समर्थनीयत्वात् । तथा च "शेषे" इतिसूत्रे बृहद्वृत्तिः— "कर्मादिभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः कर्माद्यविवक्षालक्षणोऽश्रूयमाणक्रियः श्रूयमाणक्रियो वाऽस्येदंभावरूपः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धविशेषः शेष" इति । अत्रैव च क्रियाकारकपूर्वक इति प्रतीकमुपादाय शब्दमहार्णवन्यासः— "एतच्च बाहुल्याभिप्रायेण नत्वैकान्तिकम् । यतः कारकाणां कर्मादीनामविवक्षया सामान्यकारकः विवक्षायामेव केवलायां सम्बन्धप्रादुर्भावात्कारकशेष इति व्यवह्रियते इत्याह-**कर्माद्यविवक्षालक्षण** इति । कर्मादिभ्योऽन्य इति तु विशेषेभ्योऽन्यत्वं विवक्षितुं न तु सामान्यादनाश्रितविशेषत्कारकादपि । एवम्-

"सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः ।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते" ॥ १ ॥

इत्यत्रापि द्रष्टव्यमिति । हेत्वादौ तु हेतुत्वादिमात्रेण तत्तद्विभक्तिविधानमिति न तत्र व्यापारसामान्यविवक्षाऽपीति न तस्य कारकत्वम् ।

ननु सम्बन्धस्य कारकत्वे "नाम्नः प्रथमैके" त्यादिसूत्रे बृहद्वृत्तौ—"सा स्वराश्रयाश्रितक्रियोत्पत्तिहेतुः कारकरूपा तत्पूर्वकसम्बन्धरूपा च शक्तिरि" त्ति ग्रन्थस्य का गतिः, कारकपदेनैव सम्बन्धस्याऽपि ग्रहणात्तस्य पृथगुक्तेरनवकाशादिति चेन्न । उक्तबृहन्न्यासपर्यालोचनयाऽत्र कारकपदस्य कारकविशेषपरतयैव प्रयोगस्योपपादनीयत्वात् । एवं "शेषे" इति सूत्रस्थबृहद्वृत्तिग्रन्थेऽन्यत्राऽपि च बोध्यम् । न च सम्बन्धस्य कारकत्वे 'वसूनामिदं वस्त्रमि' त्यादौ

"बह्वल्पार्थादि" त्यादिना ष्शसापत्तिरिति वाच्यम् । १ अनभिधानादेव तादृशस्थले प्रत्ययाऽप्रवृत्तेरिति ध्येयम् ।

एवञ्च "क्रियाहेतुः कारकमि" तिसूत्रे बृहद्वृत्तिस्थं "हेत्वादेरि"ति प्रतीकमुपादायाऽऽदिना सम्बन्धं परिगृह्य तस्याऽकारकत्वमित्यभिधाय तत एव 'न ष्शसि' त्युक्ति र्लघुन्यासकर्त्तुरुक्तबृहन्न्यासाऽपरिशीलनमूलकमित्यवधेयम् ।

यत्र च व्यापारविशेषविवक्षा, तेषु षट्सु विशेषमाह—

**२ उक्ताऽनुक्ततया द्वेधा कारकाणि भवन्ति षट् ।**
**उक्तेषु प्रथमैव स्यादनुक्तेषु क्रमादिमाः ॥ २ ॥**

**उक्तेत्यादि** । यस्मिन् प्रत्ययस्तदुक्तम्, मुख्यमित्यर्थः । अन्यदनुक्तम्, गौणमित्यर्थः । प्रत्ययवाच्यत्वाऽवाच्यत्वाभ्यामेवोक्तानुक्तत्वव्यवस्था । तदुक्तं बृहद्वृत्तौ– "आख्यातपदेनाऽसमानाधिकरणं गौणमि" ति "त्याद्यन्तपदसामानाधिकरण्ये प्रथमे" ति च । तानि कारकाणि सर्वाणि द्विधा कतिपयानि वेत्याशङ्कानिवृत्तये आह– **षडिति** । षडेवेत्यर्थः । न्यूनमेतत् । मत्वर्थादेः प्रत्ययस्य सम्बन्धे विधानात्तस्योक्तत्वाद् 'गोमान् देवदत्त' इत्यादौ न षष्ठी, किन्तु प्रथमैव । एवञ्च सम्बन्धोऽप्युक्ताऽनुक्ततया द्विधा । अत एव बृहद्वृत्तावभिहितोदाहरणे 'गोमान् मैत्रः, चित्रगुश्चैत्र' इत्युदाहृतमिति बोध्यम् ।

---

१ अनभिधानादेवेत्यादि । बहुशो वस्त्रमित्येवं प्रयोगे लोके बहूनां वस्त्रमित्यर्थाऽबोधात्तथाप्रयोगाऽभावात्, अप्रयुक्ते च शास्त्राऽप्रवृत्तेः । यदुक्तं [भा]ष्ये –'यथालक्षणमप्रयुक्ते' इतिभावः ।

२ उक्तेत्यादि । षट्कारकाण्युक्ताऽनुक्ततया द्वेधा भवन्तीत्यन्वयः ।

तत्र क्व का विभक्तिरित्याह—**उक्तेष्वित्यादि** । गौणादित्यधिकृत्य द्वितीयादीनां विधानात्परिशेषादुक्तेषु प्रथमाया एव प्राप्तेः । उक्तता च यथा त्यादिना, तथा कृता तद्धितेन समासेन निपातेन च । तत्र त्यादिषु स्वयमेवाऽग्रे वक्ष्यति । समासेनाऽभिधानं यथा—'चित्रगुश्चैत्र' इति । अत्र चित्रा गावो यस्येति षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य समासेनैवोक्तत्वान्न चैत्रपदात्षष्ठी, किन्त्वर्थमात्रे प्रथमैव । निपातेनाऽभिधानं यथा—'विषवृक्षोऽपि सम्वर्ध्य स्वयं च्छेत्तुमसाम्प्रतमि' ति, 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादौ । असाम्प्रतमित्यस्य हि सम्प्रति न युज्यत इति कर्मप्रधानोऽर्थः । ततश्च विषवृक्षरूपकर्मण उक्तत्वात्प्रथमैव । तत्राऽपिना कर्मोक्तमित्यपि मतम् । इति शब्देन कर्मण उक्तत्वाच्च न नारदपदाद्द्वितीयेति बोध्यम् । **इमा इति** । द्वितीयादयो विभक्तयो वक्ष्यमाणा इत्यर्थः ॥ २ ॥

अनुक्तेषु क्व केत्यपेक्षायामाह—

**कर्मणि द्वितीया कर्तृकरणयोस्तृतीयका ।**
**सम्प्रदाने चतुर्थी स्यादपादाने तु पञ्चमी ॥ ३ ॥**
**[1]आधारे सप्तमी षष्ठी सम्बन्धे च विभक्तयः ।**
**इति सङ्क्षेपतः प्रोक्ता वक्ष्यन्तेऽग्रे सविस्तराः ॥ ४ ॥**

---

१ आधारे सप्तमी सम्बन्धे च षष्ठी विभक्तय इति क. ग. पाठः ईदृशः पाठः 'कर्मणि द्वितीये' त्यादिवत्कारकस्य प्राथम्येनोपादानक्रमाऽनुरोधादिति प्रतिभाति । परमत्र पाठे यतिभङ्गः, षष्ठीविभक्तय इत्येवं समस्तपदत्वभ्रमदशायां विभक्तिपदस्य द्वितीयेत्यादावन्वयोऽस्फुटश्च स्यादिति ध्येयम् ।

**तृतीयका** इति। तृतीयेत्यर्थः। स्वार्थे कः। **विभक्तय** इति। अस्याऽग्रिमकारिकोक्तेन 'इमा' इत्यनेनाऽन्वयः। नन्वेतद्बालानामपि सुगममिति नैषोऽध्यवसायो विशेषकर इति चेत्तत्राह—इतीत्यादिना।

**सविस्तरा** इति प्रतिज्ञातं कारकेषु प्रत्येकं तत्तद्विशेषप्रदर्शनेन पूरयिष्यन् प्रथमं प्राथम्याल्लक्षणप्रदर्शनपूर्वकं कर्तृविशेषमेवाह—

**यः करोति किमप्येष कर्त्ता स त्रिविधो मतः।**
**स्वतन्त्रो हेतुकर्त्ता च कर्मकर्त्ता तथाऽपरः ॥ ५ ॥**

**यः करोतीत्यादि**। तदुक्तम्

**"फलार्थी यः स्वतन्त्रः सन् फलायाऽऽरभते क्रियाम्।**
**नियोक्ता परतन्त्राणां स कर्त्ता नाम कारकमि" ति ॥ १ ॥**

परतन्त्राणां कर्मादीनामित्यर्थः। नन्वेवं 'नदीकूलं पतती,' त्यादौ कूलादेः कर्तृत्वं न सम्भवति, फलार्थित्वस्य फलार्थक्रियारम्भस्य परतन्त्रनियोक्तृत्वस्य च चेतनधर्मतयाऽचेतने कूलादौ तदसम्भवादिति चेन्न। "नदी कूलं पातयति". "कूलं पतद्वृक्षं पातयती" त्यादौ कूलादौ तस्योपचारदर्शनादुपचारेणैवाऽचेतनस्थले कर्तृत्वाऽवगमात्। बृहन्न्यासे तु—"सामान्येन कर्तृव्यापारे पदं निष्पाद्य पश्चात्पदान्तरयोगः, नह्यन्तरङ्गं पदसंस्कारं बहिरङ्गः पदान्तरसम्बन्धो बाधत" इति समाहितम्। वाक्यसंस्कारे तु मदुक्तैव गतिरित्यवधेयम्।

वस्तुतस्तूक्तं कर्तृलक्षणमुपलक्षणं [१] स्वातन्त्र्यस्येति बोध्यम् । **स्वतन्त्र इति** । क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षित इत्यर्थः । **हेतुकर्तेति** । प्रयोजककर्त्तेत्यर्थः । तथा च पाणिनिसूत्रम्—" तत्प्रयोजको हेतुश्चे " ति । यद्यपि प्रयोजकस्याऽपि स्वातन्त्र्यमेव । अत एव हैमे न तस्य पृथक्कर्तृसंज्ञोक्ता । तथापि प्रयोजकत्ववैशिष्ट्यात्पृथगुक्तिः । एवञ्च यत्र न किमपि प्रयोजकत्वादिरूपं वैशिष्ट्यम्, स एवाऽत्र स्वतन्त्रशब्देन विवक्षितः । अत एव स्वातन्त्र्याऽविशेषेऽपि कर्मकर्त्तुरपि पृथगभिधानमिति मन्तव्यम् । कर्मकर्त्ता च यत्र कर्मैव सौकर्यातिशयात्कर्तृत्वेन विवक्ष्यते सः । तदेतत्सर्वमग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ ५ ॥

तेषां त्रयाणां प्रत्येकं लक्षणाद्यभिधित्सुराह—

**न परैः प्रेर्यते यस्तु स्वतन्त्रो गौः प्रयातिवत् ।**
**यः पुनः कारयत्यन्यं हेतुकर्त्ता स कथ्यते ॥ ६ ॥**

**न परैरिति** । अस्य क्रियासिद्धावित्यादिः । प्राधान्येन विवक्षित इति समुदायभावार्थः । शब्दार्थाऽनुसरणे तु प्रयोजकसन्निधाने प्रयोज्यस्य कर्तृत्वं न स्यात्, परप्रेरितत्वात् । उक्तभावार्थाऽनुसरणे तु प्रयोज्यस्याऽपि क्रियाया मुख्यभावेन करणात्प्राधान्यमस्त्येवेति कर्तृत्वमुपपद्यते । यदुक्तं बृहन्न्यासे—" प्रयोजकसन्निधानेऽपि स्वार्थदर्शना-

---

१ स्वातन्त्र्यस्येति । एवञ्चाऽत्र 'किमपि करोती' त्युक्तिस्वारस्यात्स्वातन्त्र्यं फलानुकूलव्यापाराश्रयत्वमेवेति तात्पर्यमवगन्तव्यम् । व्यापारश्च चेतनाऽचेतनसाधारणो धर्मः । ततश्चाऽचेतने कर्तृत्वशङ्कासमाधाने नाऽतीवोचिते इति प्रतिभाति । पतनाद्यनुकूलव्यापारस्य नदीकूलादौ सत्त्वेऽविवादात् ।

त्प्रयोज्यः करोति नान्यथेति तस्य स्वातन्त्र्यमस्तीति, 'प्रेषितोऽप्ययसौ स्वार्थदर्शनादिच्छायां सत्यां क्रियां करोति तददर्शनान्न करोतीति स्वतन्त्र एवासा" विति च। तथा च **नन्दिरत्नमतिः**—

**"यः क्रियां कर्मकर्तृस्थां कुरुते मुख्यभावतः।**
**अप्रयुक्तः प्रयुक्तो वा स कर्त्ता नाम कारकमि" ति ॥ १ ॥**

उदाहरणमाह—**गौरिति**। गौर्ह्यत्र गमनक्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितेति कर्तृत्वं तस्या इति भावः। हेतुकर्तृलक्षणमाह—**य इत्यादिना**। **कारयति**—प्रयुनक्तीत्यर्थः। **अन्यमिति**। स्वभिन्नं कर्त्तारमित्यर्थः। १ अन्यथा कर्तृमात्रस्य स्वक्रियां प्रति कर्मादिप्रयोक्तृत्वसत्त्वादतिव्याप्तेरित्यवधेयम् ॥ ६ ॥

ननु पूर्वं षण्णां कारकाणामुक्ताऽनुक्ततया द्वैविध्यमुक्तम्, एवं च यत्र णिगन्तस्थले प्रयोजकः प्रयोज्यश्चेति कर्तृद्वयम्, तत्र कः प्रत्ययेनोच्येतेति सन्देह इति चेत्तन्निरासायैवाह—

**अनेककर्तृके मुख्यं कर्त्तारं प्रत्ययो वदेत्।**
**भूपतिः सूपकारेण पाचयत्योदनं यथा ॥ ७ ॥**

**अनेकेति**। यत्राऽनेको=गौणो मुख्यश्च कर्त्ता, तादृशस्थल इत्यर्थः। णिगन्तस्थल इति यावत्। अन्यत्र तु न तथा सम्भव इति बोध्यम्। **मुख्यमिति**। प्रयोजकमित्यर्थः। गौणमुख्यन्यायादिति बोध्यम्। उदाहरणमाह—**भूपतिरि**-त्यादिना। अत्र हि सूपकारः प्रयोज्यतया भूपत्यपेक्षया गौण इत्यनुक्तत्वात्ततस्तृतीया, भूपतिशब्दाच्च

१ अन्यथेति। अन्यपदेन कर्तुर्भिन्नस्य कर्मादेरपि परामर्श इत्यर्थः।

तस्य मुख्यतयोक्तत्वात्प्रथमेति भावः ॥ ७ ॥

सम्प्रति मुख्यकर्तृपरिचयाय स्वयमेवाह—

**मुख्यस्तु स प्रयोक्ता यश्चेत् प्रयुक्तो [1] नचाऽपरैः ।**
**यथा चैत्रेण मैत्रेण श्रियं पोषयति प्रभुः ॥ ८ ॥**

**मुख्य** इत्यादि । अयंभावः-प्रयोज्यप्रयोजकौ द्वावपि प्रयोक्तारौ, एकः कर्मादीनामपरश्च प्रयोज्यस्य प्रयोक्ता । तत्र स प्रयोक्ता मुख्यो योऽपरैरप्रयुक्तः । ननु स्वप्रयुक्त इत्येवमेवोच्यतामिति चेन्न । [2] प्रागुक्तबृहन्न्यासस्वरसतो हि स्वप्रयुक्तत्वमप्युभयत्र तुल्यम्, अन्यथा स्वातन्त्र्यमेव विहन्येत । एवं च नैतद्विशेषणं व्यावर्त्तकमित्यतः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे--**न चाऽपरैरिति** । तथा चाऽपरैरप्रयुक्तः प्रयोक्ता मुख्य इत्यर्थः । **अपरैरिति** बहुवचनमतन्त्रम्, तेनैकेनाऽपि प्रयुक्तोऽपराऽप्रयुक्तो न भवतीत्यवधेयम् । **यथे**त्युदाहरणप्रदर्शने । **चैत्रेणेत्यादि** । मैत्रः श्रियं पुष्णाति, तं चैत्रः प्रेरयति, चैत्रं च प्रभुः प्रेरयतीति णिगन्ताण्णिग् । अत्र हि चैत्रमैत्रौ द्वावपि परप्रयुक्ताविति तयोः प्रत्ययानुक्तत्वादुभयत्र तृतीया । प्रभुश्च प्रत्ययोक्त इति ततः प्रथमा । यद्वा चैत्रं मैत्रं प्रभुः प्रेरयतीत्येकणिगन्त एव प्रयोग इति ॥ ८ ॥

---

१ 'श्चेत्प्रयुक्तः स नाऽपरैः इति क० ग० पाठः । परमीदृशः पाठः 'स' इत्यस्य पुनरुक्त्योपेक्षितः ।

२ 'प्रेषितोऽप्यसौ स्वार्थदर्शनादिच्छायां सत्यां क्रियां करोति तददर्शनान्न करोतीति स्वतन्त्र एवाऽसावि' तिबृहन्न्यासग्रन्थःप्रागुक्तो बोध्यः ।

अथ हेतुकर्तुरेव भेदानाह—

**हेतुकर्त्ताऽप्यसौ त्रेधा प्रेषकोऽध्येषकः परः ।**

**तथाऽनुकूलभागी यस्तृतीयः कथितो बुधैः ॥ ९ ॥**

**अपीति** । न केवलं कर्त्तैव, किन्तु हेतुकर्त्ताऽपीत्यपेरर्थः । **त्रेधेति** । तांस्त्रीनाह—**प्रेषक** इत्यादिना । **पर** इति । द्वितीय इत्यर्थः । **तथेति** । योऽनुकूलभागी स तृतीय इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र प्रेषकमाह—

**प्रभुत्वेन प्रयुङ्क्ते यः [१] प्रेषकः स प्रकीर्तितः ।**

**यथा भृत्येन भूपालः कारयत्युल्बणं रणम् ॥ १० ॥**

**प्रभुत्वेनेति** । न्यत्कारपूर्विका प्रेरणा प्रैष इदं कुर्विदमित्थं कुर्वित्यादिरूपा । उत्कृष्टेनाऽपकृष्टस्य नियोग इति यावत् । तां च प्रभुप्रभृतिरेव कर्त्तुं शक्नोति, ततः प्रभुत्वादिना प्रयोजकः प्रेषकः । एवञ्च प्रभुत्वेनेत्युत्कृष्टत्वोपलक्षणमित्यवगन्तव्यम् । तत्रोदाहरणमाह—**यथेति** । भृत्यो रणं करोति, भूपालश्च प्रभुभावात्तं प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः । एवञ्चाऽत्र भूपालः प्रेषको हेतुकर्त्ता । **उल्बणमिति** । व्यक्तमित्यर्थः । उग्रमिति यावत् ।

अध्येषकमाह—

---

१ 'प्रेषकोऽयं प्रकीर्तित' इति क० ग० पाठः । स च 'यत्तदो र्नित्यसम्बन्ध' इति नियममाश्रित्योपेक्षितो बोध्यः ।

**सत्कारपूर्वकं यस्तु नियुङ्क्तेऽध्येषकः [1] स्मृतः ।**
**नरः श्रद्धापरः कोऽपि गुरुं भोजयते यथा ॥ ११ ॥**

**सत्कारपूर्वकमिति ।** सत्कारपूर्विका 'कृपया भवतेदं करणीयम्, प्रसह्य भवतेदमित्थं करणीयमि' त्येवमादिरूपा प्रेरणाऽधीष्टम् । तत्कर्त्ताऽध्येषक इत्यर्थः । तादृशी च प्रेरणाऽपकृष्टेनोत्कृष्टस्य सम्भवति, ततस्तथैवोदाहरणमाह—**नर इति । श्रद्धापरः** श्रद्धावान् । **कोऽपीति ।** शिष्यादिरित्यर्थः । **गुरुमिति ।** गुरुर्भुनक्ति, तं श्रद्धया सादरं प्रेरयतीत्यर्थः । अत्रोत्कृष्टाऽपकृष्टेत्यादि सम्भवप्रदर्शनमात्रम् । तेनोत्कृष्टादिनाऽपकृष्टादेरपि सत्कारादिपूर्वकप्रेरणायामध्येषकत्वादि बोध्यम् ॥ ११

अनुकूलभागिनमाह—

**न प्रेषते नाऽध्येषते यस्त्वनुकूलभाग्यसौ ।**
**चेतनाऽचेतनत्वेन स पुनर्द्विविधो मतः ॥ १२ ॥**

**न प्रेषत** इत्यादि । क्रियायामनुकूलतां भजति, नतु प्रेरयति स उपचरितप्रेरक इति यावत् । स च तादृक्श्चेतनोऽचेतनश्च सम्भवत्यतोऽस्य द्वैविध्यमाह – **चेतने**त्यादिना । चेतनत्वेनाऽचेतनत्वेन चेत्यर्थः ॥ १२ ॥

क्रमेणोदाहरणमाह—

**चेतनो जनकं पुत्रो यथा हर्षयति स्फुटम् ।**
**अचेतनस्तु कारीषोऽग्निरध्यापयति द्विजम् ॥ १३ ॥**

---

१ 'स्तु स' इति क० ग० पाठः । स च 'तु' इतिपदस्य पुनरुक्त्योपेक्षितः ।

**चेतन इति ।** **चेतनो यथेत्यन्वयः ।** **जनकमिति ।** अत्र हि जनकहर्षे पुत्रोऽनुकूलस्तादृशचेष्टादिभिरिति पुत्रे प्रेरकत्वमारोप्यते । न तु स प्रेषकोऽध्येषको वा । **कारीष** इति । **कारीषोऽग्निर्हि** द्विजाध्ययने प्रकाशदानादिनाऽनुकूलो नतु प्रेरक इति तत्र प्रयोजकत्वमुपचर्यते । करीषं शुष्कगोमयम्, तत्र भवः कारीषः ॥ १३ ॥

सम्प्रति कर्मकर्त्तारमाह—

**स्वव्यापारं यदा कर्त्ता कर्मण्यारोपयेत्तदा ।**
**स्यात्कर्मकर्त्ता पच्यन्ते शालयः स्वयमेव तत् ॥ १४ ॥**

**स्वेति ।** यदा कर्त्ता स्वव्यापारं कर्मण्यारोपयेत्तदा तत्कर्मकर्त्ता स्यात्, शालयः स्वयमेव पच्यन्ते इत्यन्वयः । **स्वव्यापारमिति ।** कर्तृव्यापारमित्यर्थः । **कर्त्तेति ।** [१] उपलक्षणत्वात्प्रयोक्तेत्यर्थः । तेन देवदत्ते पचमाने शालयः स्वयमेव पच्यन्त इति यज्ञदत्तस्याऽपि कर्मकर्त्तरि प्रयोग उपपद्यत इति बोध्यम् । एवंच सौकर्यातिशयादिना यत्र कर्मणि कर्तृत्वविवक्षा स कर्मकर्त्तेति प्रतिपत्तव्यम् । कर्तृत्वेन विवक्षा च यत्र कर्मणि क्रियाकृतो विशेषो दृश्यते तत्रैव, निर्वर्त्ये विकार्ये च कर्मणीति यावत् । तेन घटः क्रियते स्वयमेवेतिवद् घटो दृश्यते स्वयमेवेत्यादिकं न भवति । यदुक्तम्—

“**निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मवद्भाव इष्यते ।**
**नतु प्राप्ये कर्मणीति सिद्धान्तोऽत्र व्यवस्थितः ॥ १ ॥**

---

१ कर्मकर्त्तरि वाक्यप्रयोगं यः कर्तुमिच्छति स प्रयोक्तेह बोध्यो नतु प्रेरकरूपः प्रयोक्ता । अन्यथा ण्यन्तस्थल एव कर्मकर्त्तरि प्रयोगः स्यात् । न च तथेति ध्येयम् ।

इति । एवञ्च तत्र व्यापाराऽविवक्षणाद् घटः पश्यतीत्यादिरूपमेव वाक्यम् । घटः स्वयं दर्शनाश्रयो भवतीत्यादिरूपेण चार्थ इत्यवधेयम् । पच्यन्ते इत्याद्युदाहरणम् । अत्र सौकर्याऽतिशयाच्छालय एव कर्तृत्वेन विवक्षिताः । स्वयमेवेत्यनुवादमात्रम् । पच्यन्ते शालय इत्येतावतैव तदर्थावगतेः, कर्मणि प्रयोगभ्रमवारणार्थं वा तत् ॥ १४ ॥

अनुक्ते कर्तरि प्रयोगप्रकारमाह—

**१ तथाऽनुक्तत्वभेदोऽपि प्रस्तावादिह कथ्यते ।**

**यथा सरस्वती देवी छात्रवृन्देन वन्द्यते ॥ १५ ॥**

**अनुक्तेत्यादि** । अनुक्तत्वेन यः कर्तृभेदः, सोऽपि, **प्रस्तावाद्**—अवसरसङ्गतेरित्यर्थः । **यथेत्यादि** । वन्द्यते इति कर्मणि प्रयोगात्कर्त्तुरनुक्तत्वेन छात्रवृन्देनेति तृतीयान्तम् । अनुक्तकर्त्तरि तृतीयाऽनुशासनात् । सरस्वतीति कर्मेत्युक्तेषु प्रथमैवेत्युक्तेः प्रथमान्तम् । अनुक्तेभ्य एव कारकेभ्यो द्वितीयादीनामनुशासनादिति बोध्यम् । भावादौ कृत्प्रत्यये तु गौणात्कर्त्तुः षष्ठ्यपि, यथा तस्य कर्त्तव्यम्, आचार्यस्याऽनुशासनमित्यादावित्यपि बोध्यमिति ॥ १५ ॥

## ॥ अथ कर्मकारकविवरणम् ॥

तत्रादौ कर्मणो लक्षणमाह—

**यत्क्रियते तत्कर्म स्याद्भेदैस्त्वेतदनेकधा ।**

**निर्वर्त्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं च त्रैधमिष्यते ॥ १६ ॥**

१ 'नुकूल' इति क० पाठः । स च लेखकादिप्रमादादेव ।

**पुनस्त्रिधा भवेदिष्टाऽनिष्टाऽनुभयभेदतः ।**
**तथैवाऽकथितं कर्म कर्तृकर्म तथाऽपरम् ॥ १७ ॥**

**यत्क्रियत** इति । क्रियाजन्यफलाश्रयः इत्यर्थः । **भेदैरिति** । अवान्तरविशेषैरित्यर्थः । **तुः** पूर्वस्मात्कर्त्तुर्विशेषे । तमेवाह–**अनेकधेति** । बहुविधमित्यर्थः । कालादीनां सर्वक्रियास्वाधारादीनां च क्रियाविशेषे कर्मत्वाऽनुशासनादनुगतरूपेण तत्सङ्कलनस्य दुष्करत्वादिति बोध्यम् । तथापि पूर्वाचार्यैः समान्यतः कृतानुगमान् भेदानाह–**निर्वर्त्यमिति** । **पुनस्त्रिधेति** । तत्त्रिविधमपि प्रत्येकं त्रिधेत्यर्थः । **अनुभयेति** । इष्टाऽनिष्टभिन्नमित्यर्थः । **अकथितमिति** । एतच्चाऽग्रे स्फुटीभविष्यति । **कर्तृकर्मेति** । एतदप्यग्रे स्फुटीभविष्यति ॥१६॥ ॥ १७ ॥

सम्प्रति निर्वर्त्त्यं सलक्षणोदाहरणमाह—

**यदसज्जायते यच्च जन्मना वा [1] प्रकाशते ।**
**तन्निर्वर्त्त्यं करोत्येष कटं सूते सुतं यथा ॥ १८ ॥**

**जायत** इति । उत्पद्यत इत्यर्थः । **जन्मनेति** । अत्राऽभिव्यक्तिरेव जन्म, असतः सतो वा निर्वर्त्तनाऽयोगात् । न चैवं यदसज्जायत इत्यसङ्गतम् । द्वेधा हि निर्वृत्तिः, केषाञ्चिन्मतेऽसत उत्पत्तिः, अन्येषां च मते सतोऽभिव्यक्तिः । व्याकरणस्य च वस्तुस्वरूपनिर्णयाऽनधिकृतत्वाच्छब्दव्युत्पादन एव च व्यापाराद्यथास्वमति व्युत्पादनं

१ 'प्रकाश्यते' इति क० ग० पाठः । किन्तु 'जायते' इत्येतत्पर्यालोचनया 'प्रकाशते' इत्येव पाठ आस्थितः ।

जायतामित्युभयमुक्तमिति गृहाण । उदाहरणमाह—**एष इति** । असन्तं कटं क्रियया निर्वर्त्तयतीत्यसन्नेव कटो जायत इति स निर्वर्त्यं कर्म । **सूते** इति । गर्भस्थं सुतं जन्मना प्रकाशयतीति स जन्मना प्रकाशते इति सुतोऽपि निर्वर्त्यं कर्म ॥ १८ ॥

विकार्यमाह—

**सतो गुणान्तराऽऽधानात्प्रकृत्युच्छेदतोऽपि [1] वा ।**
**[2] जायते विक्रिया यस्य तद्विकार्यं विदुर्बुधाः ॥ १९ ॥**

**गुणेति** । अत्र गुणपदेनोपाधिमात्रस्य ग्रहणम्, नतु परिभाषितस्य गुणस्यैवेति बोध्यम् । **विक्रियेति** । अवस्थान्तरमित्यर्थः । उत्तरकालमिति शेषः । तथाचोक्तं बृहन्न्यासे—"यल्लब्धसत्ताकं सदुत्तरमवस्थान्तरं नीयते तद्विकार्यमित्यर्थ" इति ॥ १९ ॥

उदाहरणमाह—

**कुण्डलीकुरुते [3] स्वर्णं काष्ठं दहति पावकः ।**

**स्वर्णमिति** । अत्र हि कुण्डलाकाररूपगुणान्तराधानात्स्वर्णमवस्थान्तरं प्रतिपद्यते, काष्ठं च प्रकृत्युच्छेदतो भस्मरूपमवस्थान्तरं प्रतिपद्यत इति क्रमशो द्वयं विकार्यं कर्म ॥

---

१ 'च' इति क० ग० पाठः ।

२ 'प्रपद्यते यद्विकृत्यमि' ति क० ग० पाठः । स स्वपार्थकत्वादुपेक्षितः । विकृतिमिति पाठश्चेत्स्यात्सङ्गच्छेताऽपीति बोध्यम् ।

३ 'हेम' इति क० पाठः ।

प्राप्यमाह—

**क्रियाकृतो विशेषस्तु यत्र नास्ति कदाचन ॥ २० ॥**
**तत्प्राप्यं स्याद्यथाऽऽदित्यं पश्यत्यमललोचनः ।**

**क्रियाकृत** इति । क्रियया जनित इत्यर्थः । **विशेष** इति । निर्वृत्तिविकारलक्षणः, **कदाचने**त्यनुवादमात्रम् । कदापि क्रियाकृत-विशेषसत्त्वे प्राप्यत्वव्याघाताऽवश्यम्भावादिति बोध्यम् । उदाहरण-माह—**यथे**ति । अत्र दृशिक्रियाव्याप्यस्य सूर्यस्य न निर्वृत्तिविकाररूपो विशेष इति स प्राप्यं कर्म ।

इष्टमाह—

**यदीप्सितं तदिष्टं स्याच्छिशुरत्ति यथौदनम् ॥ २१ ॥**

**ईप्सितमि**ति । यदवाप्तुं क्रियाऽऽरभ्यते तदित्यर्थः । पूर्व-मभिसंहितमिति यावत् । उदाहरणमाह—**शिशुरि**ति । बुभुक्षादि-निवृत्तये हि शिशोरोदनं पूर्वमभिसंहितमिति तदिष्टं विकार्यं कर्म ॥२१॥

अनिष्टमाह—

**द्विष्टं यत्प्राप्यते तत्स्यादनिष्टं भुजगादिकम् ।**
**यथाऽहिं लङ्घयत्यन्धोऽथवा मृद्नाति कण्टकान् ॥२२॥**

**द्विष्टमि**ति । यद् भुजगादिकं द्विष्टं प्राप्यते, तदनिष्टं स्या-दित्यन्वयः । **द्विष्टं** प्रतिकूलम्, तच्च भुजगादिकम्, तज्जन्यदुःखे द्वेषात्, फले द्वेषाद्ध्युपाये द्वेषः । **प्राप्यते** इति । क्रियया व्याप्यत इत्यर्थः । ननु द्विष्टं प्राप्यं भुजगादिकमनिष्टमित्यर्थः । विकार्यादेर-प्यनिष्टस्य सम्भवादिति न विस्मर्तव्यम् । उदाहरणमाह—**यथेत्या-**

दिना । अत्राऽहिः प्राप्यमनिष्टं कर्म । कण्टकाश्च विकार्यमनिष्टं कर्म । अन्ध इति मृद्नातीत्यत्राऽपि सम्बध्यते ॥ २२ ॥

इष्टानिष्टभिन्नमाह—

**यत्र नेच्छा न च द्वेषस्तत्स्यादनुभयं यथा ।**
**ग्रामं गच्छंस्तरोर्मूलान्युपसर्पति मार्गगः ॥ २३ ॥**

**यत्रेति** । यन्नेष्टं न चाऽनिष्टं तदित्यर्थः । **ग्राममिति** । अत्र हि तरोर्मूलानि नेष्टानि, पूर्वमनभिसंहितत्वात् । न चाऽनिष्टान्यप्रतिकूलत्वात् । किन्तु गमनक्रियायामारभ्यमाणाया[१] मन्तरालस्थत्वेन [२] नान्तरीयकतयोपसृप्यमाणानीत्येतादृशं कर्माऽनुभयम् ॥ २३ ॥

अकथितं कर्माह—

**दुहादीनां प्रयोगे च द्वितीयं कर्म यत्किल ।**
**भवेदकथितं तच्च यथाऽसौ दोग्धि गां पयः ॥२४॥**

**दुहादीनामिति** । दुहादयश्चाऽनुपदमेव वक्ष्यन्ते । **किलेति** पादपूर्त्तौ वाक्यालङ्कारे वा । अपादानादिविशेषैरविवक्षितं क्रियायां निमित्तत्वमात्रेण [३] तद्व्याप्यत्वेन विवक्षितमिति तद् द्वितीयं कर्म । तच्च दुहादीनां प्रयोग एवेत्यत एव दुहादीनां प्रयोगे द्वितीयं कर्मेत्युक्तमिति बोध्यम् । अन्यत्र तथाऽसम्भवाद् **दुहादीनामिति** । **अकथितमिति** ।

---

१ मार्गमध्यवर्त्तितयेत्यर्थः ।

२ गमनस्य मूलोपसर्पणाऽविनाभावितयेत्यर्थः ।

३ व्याप्यत्वेनाऽविवक्षायां त्वपादानादिविशेषाविवक्षणे सम्बन्धस्यैव प्रादुर्भाव इत्यतस्तथात्वेन विवक्षाऽकथितकर्मत्वेऽपेक्षितेति बोध्यम् ।

गौणमित्यर्थः । उदाहरणमाह—**असाविति** । अत्र गवा पयस्त्याजयतीत्यर्थावगमाद् गोः कर्तृकर्मत्वमेवेति चेन्न । यत्र स्वयं व्यापारमाश्रितः कर्त्ता प्रयुज्यते देवदत्तं ग्रामं गमयतीत्यादौ, तत्रैव तत् । द्विकर्मकधातुषु तु स्वयं निष्क्रियस्याऽपि गवादे र्दोहादिक्रियायां विनियोग इति स्वातन्त्र्याऽभावान्न कर्तृकर्मता गवादेरित्यकथितमेवैतत् । न चैवमपि गोः पयोविभागादपादानत्वं स्पष्टं प्रतीयत इति कथं गवादेः कर्मत्वमिति वाच्यम् । गवादिषु प्रतीयमानस्याऽप्यपादानत्वादेरविवक्षणान्निमित्तत्वमात्रेण क्रियाव्याप्यत्वविवक्षणाच्च कर्मत्वसद्भावात् ।

ननु स्वयं निष्क्रियस्येत्ययुक्तम्, क्रियासिद्धावाश्रितव्यापारस्यैव कारकत्वादिति चेन्न । गोः स्थित्यूधःसमाकर्षणादिक्रियाश्रयतया दोहादिक्रियासिद्धौ सक्रियत्वात्प्रकृतधातूपात्तक्रियानाश्रयतयैव तत्र निष्क्रियत्वोक्तेरित्यवधेयम् ॥ २४ ॥

तत्र द्विकर्मकेषु द्वयोः कर्मणो गौणमुख्यव्यवस्थामाह—

**यच्चोपयुज्यमानं पयःप्रभृत्यत्र तद्भवेन्मुख्यम् ।**
**१ यन्निमित्तमपरं तद् गौणं गोप्रभृति विज्ञेयम् ॥२५॥**

**यच्चेति** । **चो** भिन्नक्रमः । तथा च--अत्र च यदुपयुज्यमानं पयः प्रभृति, तन्मुख्यं भवेत्, यदपरं निमित्तं तद् गोप्रभृति गौणं विज्ञेयमित्यन्वयः । **अत्रेति** । द्वयोः कर्मणोरित्यर्थः । **उपयुज्यमानमिति** । यदर्थं क्रियाऽऽरभ्यते तदित्यर्थः । यदि हि पयः-

१ 'यत्तन्निमिमित्तमपरं तद्गौणं गोप्रभृत्येवमि' ति क० पाठः । 'यन्निमित्तमपरं तद्गौणं गोप्रभृत्येवमि' ति ग० पाठः ।

प्रभृतेरुपयोगो न स्यान्न क्रियाऽऽरभ्येतेति क्रियया विशेषेणाऽऽप्यत्वादेव मुख्यं कर्मेति भावः । **निमित्तमिति** । अन्यथाऽसम्प्राप्ते दुग्धाद्यर्थमुपादीयमानं क्रियाऽव्याप्यत्वेन विवक्षितमित्यर्थः ।

यदा तु दुग्धाद्यर्थप्रवृत्तिरविवक्षिता, गवादेरेव च क्रियाऽव्याप्यत्वविवक्षा भवति, तदा मुख्यस्याऽसन्निधानाद्गवादेरेव मुख्यत्वमिति तस्यैव क्रियाव्याप्तिर्गम्यते । तथा च–'गां दोग्धि, आश्चर्यो गवां दोह' इत्याद्युदाहरणानि । यदा तु गवादेरवधित्वादिविवक्षा, तदा न तस्याऽकथितकर्मत्वम्, किन्त्वपादानत्वाद्येव । तथा च–'गोः पयो दोग्धी' त्यादयोऽपि प्रयोगाः ।

ननु दुग्धाद्यर्थं गवाद्युपादानवत् 'अजां ग्रामं नयति, भृत्यं भारं वहती' त्यादौ नाऽजाभारादिनिमित्तं ग्रामभृत्यादीति तत्र गौणलक्षणस्याऽव्याप्तिरिति चेन्न । नहि यन्निमित्तमेव तदेव गौणम्, किन्तु मुख्यादन्यत्क्रियाऽव्याप्यत्वेन विवक्षितमत्र गौणम्, तादृशं प्रायशो निमित्तमिति निमित्तमित्युक्तम् । अजाग्रामादीनां च मुख्यगुणीभूतक्रियाऽव्याप्यत्वान्मुख्यगौणते बोध्ये । तथाहि–नयत्यादौ प्राप्त्यादिक्रियाविशिष्टा प्राप्त्यादिक्रिया वाच्या । तत्र गुणीभूताऽजाप्रभृतिप्राप्त्यादिक्रियाव्याप्यतया ग्रामादीनां कर्मणां गौणता बोध्या । [1] अत एवाऽजादिकस्य स्वस्य च देवदत्तादेर्ग्रामादिप्राप्तिः प्रतीयते । यथा पच्धातो र्विक्लेदनविशिष्टनिर्वर्त्तनमर्थः । तण्डुलानोदनं पचतीत्यत्र तण्डुलान् विक्लेदय-

---

१ नयत्यादेः प्राप्त्युपसर्जनप्राप्तिक्रियाद्यर्थत्वादेवेत्यर्थः । प्राप्तिक्रियादिमात्रार्थकत्वे तु न देवदत्तादेः प्राप्तिः प्रतीयेताऽशाब्दत्वादित्याशयः ।

न्नोदनं निर्वर्त्तयतीत्यर्थाऽवगमात् । विक्लेदनमात्रविवक्षया तण्डुलं पचतीत्यपि, सम्बन्धसामान्यविवक्षायां च ‘ तण्डुलानामोदनं पचती ’ त्यपि । दुहेश्च प्रेरणाजनितनिःसरणमर्थः । तत्र गोः प्रेरणाश्रयत्वाद् दुग्धस्य च निःसरणाश्रयत्वात्कर्मत्वम् । प्रेरणामात्रविवक्षायां गां दोग्धीति, निःसरणमात्रविवक्षायां पयो दोग्धीत्यादिप्रकारेण प्रयोगाः । एवमन्यत्राऽपि स्वयमूहनीयम् ॥ २५ ॥

नन्वेवं द्विकर्मकेषु धातुषु कर्मणि प्रत्यये द्वयोरेवोक्तत्वं न सम्भवति, एकस्य शब्दस्य युगपद् गौणमुख्यनानार्थाऽभिधानाऽसमर्थत्वात्, सकृदुच्चरितस्य शब्दस्य सकृदर्थप्रत्यायननियमात् । एवञ्च कस्याऽप्येकस्यैवाऽभिधानं सम्भवति । ततश्च कस्याऽभिधानमित्यनिर्णये व्यवस्थार्थमाह—

**भारादि नीयमानं नीवह्यादेः प्रधानकं कर्म ।**
**तत्तव्यादावुक्तं नेयो ग्रामं यथा भारः ॥ २६ ॥**

**भारादीति** । नीयमानं भारादि नीवह्यादेः प्रधानकं कर्म यत्, तत्तव्यादावुक्तम्, यथा नेयो ग्रामं भार इत्यन्वयः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तच्छब्दबलाद्यदिति लभ्यते । तव्यादाविति । आदिना क्यक्तादयः । उपलक्षणत्वात्कर्मणि प्रत्यये इति यावत् । **नेय** इति । अत्र भाररूपकर्मण उक्ततया प्रथमा । नीवह्यादेः प्रधानकं कर्मोक्तमित्युक्त्या परिशेषाद् दुहादे गौणं कर्मोक्तं भवतीति लभ्यते । अन्यथा दुहादेरित्येव वदेदिति बोध्यम् ।

इदमत्र द्रष्टव्यम्—यदन्तरङ्गं कर्म तदेवोक्तं भवति प्रत्ययेन ।

अन्तरङ्गं च यत्र पूर्वं क्रियाप्रवृत्तिस्तत्, प्रथमोपस्थितत्वात्। न चैवं तस्य मुख्यत्वमपि शङ्क्यम्। यदर्थं क्रियाप्रवृत्तिस्तदेव हि मुख्यं फलमिति तदाश्रयस्यैव मुख्यत्वम्। एवञ्च दुहादिनीवह्याद्योरादिपदं प्रकारवाच्येवाऽवगन्तव्यम्। व्यवस्थावाचित्वे [2] पचादेर्नीवह्याद्यन्तर्गततया 'तण्डुला ओदनं पच्यन्त' इत्यादिवाक्यानामसाधुत्वापत्तेः। नह्यत्र तण्डुला मुख्यं कर्म, किन्त्वन्तरङ्गमित्यन्तरङ्गत्वमेवोक्तत्वे प्रयोजकमित्यवधेयम्। तथा च नीवह्यादौ भारादिर्दुहादौ च दुग्धादि मुख्यं कर्म। अन्तरङ्गं च नीवह्यादौ भारादिरेव, दुहादौ तु गवादिः, प्राथम्येन तत्रैव प्रवृत्तेरित्यन्तरङ्गत्वात्तत्रैव कर्मणि प्रत्यय इति नीवह्यादौ मुख्यं दुहादौ च गौणं कर्मोक्तं भवति कर्मणि प्रत्यये सति। यदुक्तम्—

"गुणकर्मणि ला (त्या) दिविधिः पूर्वं गुणकर्मणा भवति योगः।
मुख्यं कर्म प्रेप्सु र्यस्मात्कर्त्र्येव यतते प्राक्॥ १॥
तस्माच्छुद्धस्य दुहेर्भवति गवा पूर्वमेव सम्बन्धः।
गोदुहिना पयसस्तु प्राक्तस्माल्ला (त्या) दयस्तस्मिन्नि" ति॥२॥२६

उक्तप्रकारं च गौणं मुख्यं च कर्मद्वयं यादृशीषु क्रियासु सम्भवति, तदर्थान् धातून् परिगणयन्नाह—

[1] दुहियाचिप्रच्छिरुधिभिक्षिब्रूग्शासिचिग्रर्थकाः।
नीवहिपचिजिग्रहिमुषिकृषिमन्थिकृहृभिःसहिताः ॥२७॥

---

१ अनुपदमेव वक्ष्यमाणायां 'दुहियाचिप्रच्छी' त्यादिकारिकायां पचादेर्नीवह्यादौ पाठादिति बोध्यम्।

२ 'दुहियाचिप्रच्छिरुधिभिक्षिब्रूजिशासिचिञर्थकाः। नीवहिभजिजयि-

**चिगर्थका** इति । द्विकर्मका भवन्तीति शेषः । अर्थवशाद्धि द्विकर्मकता । तथाऽर्थाऽविवक्षणे तु 'गां दोग्धि, पयो दोग्धि, अजां नयति, भृत्यं नयती' त्यादय एव प्रयोगा भवन्तीत्युक्तमेव । एवञ्च दुहादिनीवह्याद्यर्थका धातवो द्विकर्मका भवन्तीत्यर्थः । परिचयार्थं तेषामुदाहरणान्युच्यन्ते :—

'गां पयो दोग्धि, स्रावयति वा । गौः पयो दुह्यते । अविनीतं विनयं याचते, मृगयते, प्रार्थयते । अविनीतो विनयं याच्यते । माणवकं पन्थानं पृच्छति, चोदयति, जिज्ञासते, अनुयुनक्ति, ज्ञीप्सति वा । माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते । व्रजं गामवरुणद्धि, आवृणोति वा । व्रजः गामवरुध्यते । पौरवं गां भिक्षते, याचते, मृगयते, प्रार्थयते, नाथते वा । पोरवो गां भिक्ष्यते । शिष्यं धर्मं ब्रूते, भाषते, वक्ति वा । शिष्यो धर्ममुच्यते । शिष्यं धर्ममनुशास्ति, उपदिशति वा । शिष्यो धर्ममनुशिष्यते । वृक्षं फलान्यवचिनोति, सङ्गृह्णाति वा । वृक्षः फलान्यवचीयते । ग्राममजां नयति, गृह्णाति, वहति, हरति वा । ग्राममजा नीयते । भृत्यं भारं वहति, भृत्यं भार

---

दण्डिमोदिकर्षिमन्थिहृन्मुखाः' इति क० पाठः । 'दुहियाचिप्रच्छिरुधिभिक्षिब्रूग्रशासिचिञर्थकाः । नीवहिपचिजिदण्डिमोदिकर्षिमन्थिहृन्मुखाः" इति ग० पाठः । स च मोदेरकर्मकत्वाद्दण्डेर्जयतिनैव सङ्ग्रहाद्व्रजेःकर्षेश्च द्विकर्मकत्वाऽऽभावादुपेक्षितः । न च नीवह्योरुभयोरुपादानं निष्प्रयोजनम्, नयतिनैव सिद्धेः, उभयोः समानार्थत्वादिति वाच्यम् । वहेरत्रोद्धरणोपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वात् समानार्थत्वाभावात् । प्राप्त्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वं यदा तदा 'ग्राममजां वहती' त्युदाहृतमिति बोध्यम् ।

उह्यते । तण्डुलानोदनं पचति । तण्डुला ओदनं पच्यन्ते । देवदत्तं शतं जयति, दण्डयति वा । देवदत्तः शतं जीयते । देवदत्तं शतं गृह्णाति, उपादत्ते वा । देवदत्तः शतं गृह्यते । मन्दुरामश्वं मुष्णाति, अपहरति, चोरयति वा । मन्दुराऽश्वं मुष्यते । ग्रामं शाखां कर्षति, ग्रामं शाखा कृष्यते । क्षीरनिधिममृतं मथ्नाति, विलोडयति वा । क्षीरनिधिरमृतं मथ्यते । काशान् कटं करोति, निर्माति, रचयति, विदधाति, सम्पादयति, जनयति वा । काशाः कटं क्रियन्ते । ग्रामं भारं हरति, ग्रामं भारो ह्रियते' इति ॥ २७ ॥

सम्प्रति कथमेषां द्विकर्मकत्वमित्यपेक्षायामाह—

**अपादानादिकविधिं बाधित्वा धातवो ह्यमी ।**
**द्विकर्मका भवन्तीति [२] कथितं पूर्वकोविदैः ॥ २८ ॥**

**बाधित्वेति ।** बाधश्चाऽवधित्वाद्यविवक्षणेनाऽपादानादिसंज्ञाऽभावात्तत्प्रयुक्तविधेरप्राप्तिरूपः । क्रियाव्याप्यत्वविवक्षणाच्च तत्र तत्र कर्मविधिः । यथाश्रुतं तु न सम्यक् । एवं सति हि सर्वत्रैवाऽऽपादानादिकविधे बाधापत्त्या 'गो दोग्धि पय' इति वाक्यस्याऽसाधुत्वापत्तेः । तस्मादपादानत्वादिविवक्षायां तद्विधिः, तदविवक्षायां क्रियाव्याप्यत्वविवक्षायां च कर्मविधिरित्येव सम्यक् । तत एवाऽऽह बृहन्न्यासे—गां दोग्धि पय इत्यादौ गोः पय आदत्ते इत्याद्यर्थाऽवसायादपादानत्वमाशङ्क्य—"तस्मादत्र यत्नान्तरं कर्त्तव्यम्, नैतदस्ति, अवधित्वाद्यविवक्षायां क्रियानिमित्तभावमात्रेण तद्व्याप्यत्वस्य विवक्षितत्वात् 'कर्त्तु-

---

२ 'कथिताः' इति क० ग० पाठः ।

ऽर्थाप्यं कर्मे' त्यनेनैव सिद्धत्वादि' ति। अवधित्वादिविवक्षायां तु भवत्येव 'गोर्दोग्धि पय' इत्यादी" ति च ॥ २८ ॥

भिक्षियाच्योः समानार्थकतया द्वयोरुपादानस्य निष्प्रयोजनत्वाऽऽशङ्कायां तयोरर्थभेदं प्रदर्श्य समाधत्ते—

**कृतकोपं [1] याचति शममविनीतं याचते विनयम्।**
**इह याचिरनुनयार्थो [2] भिक्ष्यर्था [3] दस्य तद्भेदः ॥२९॥**

**कृतकोप**मिति। क्रुद्धमित्यर्थः। **अनुनयार्थ** इति। अत्रायमाशयः – याच्धातुर्याच्ञायामनुनये च वर्त्तते, भिक्ष्धातुस्तु याच्ञायामेव। एवञ्च भिक्ष्मात्रस्योपादानेऽनुनयार्थयाच्धातोर्ग्रहणं न स्यादिति द्वयोरुपादानम्।

नन्वेवं याचिरेवोपादीयताम्, ततश्च याच्ञार्थस्याऽनुनयार्थस्य च द्वयोरपि ग्रहणं भविष्यतीति भिक्षेरुपादानं निष्प्रयोजनमिति चेत्।

अत्र बृहन्न्यासः – "अस्त्येतत्, किन्त्वेवं यथा याच्ञार्था धातवो गृह्यन्ते, एवमनुनयार्था अपि गृह्येरन्। अत्र पुनर्भिक्षिग्रहणाद् याच्ञार्थानां सर्वेषां ग्रहणम्, याचिग्रहणात्तु तस्यैवाऽनुनयार्थस्येती" ति।

लघुन्यासकारश्च—"तेन भिक्ष्यर्थमध्ये याचिद्वाराऽनुनयार्थानां न ग्रह" इत्याह।

---

१ 'याचितशममि' ति ग० पाठः। २ 'भिक्षार्था' इति ग० पाठः ३ 'त्तस्य' इति क० पाठः।

विवेकिनस्तु—"अनुनयस्य भिक्ष्यर्थत्वाऽभावादेव भिक्ष्यर्थमध्ये न ग्रहणम्, याचेरपि भिक्ष्यर्थस्यैव भिक्ष्यर्थमध्ये ग्रहणौचित्यम्, याच्ञाऽनुनययोर्भेदात् । नाऽपि याचेरेवाऽनुनयार्थस्य ग्रहणमित्यपि युक्तम् । गौणकर्मणोऽर्थनिबन्धनत्वात्तथार्थसत्त्वे तस्य वाङ्मात्रेण निषेद्धुमशक्यत्वात् । न चाऽनभिधानम्, क्रुद्धं शमं याचत इतिवत्क्रुद्धं शममनुनयतीत्यतोऽप्यर्थबोधात् । अत एव पाणिनीयैः पृथग् भिक्षिग्रहणं न कृतम् । एवञ्च पृथग्भिक्षिग्रहणमनतिप्रयोजनकतया प्रपञ्चार्थमेव । अन्यथा भिक्षेः पृथग् ग्रहणाद् याचेरनुनयार्थस्यैव, याच्ञार्थस्य भिक्षेरेव वा ग्रहणमित्यपि सम्भाव्येत, विनिगमनाविरहादि" ति मन्यन्ते ॥ २९ ॥

सम्प्रति कर्तृकर्म विवक्षुर्नित्याकर्मकेष्वपि धातुषु णिगवस्थायां तद्भवतीति प्रथमं [१] तानाह—

**वृद्धिजीवितसत्ताह्रीस्थितिजागरणार्थकाः ।**
**रुचिक्रीडामृतिभीस्वाप [२] दीप्त्यर्थास्त्वकर्मकाः ॥ ३० ॥**

**वृद्धीति** । उपलक्षणमेतत्, तथा च क्षयग्लानिवयोहानिरोदनप्राणनमोदमदाद्यर्थका अप्यकर्मकाः । [३] तत्त्वं च फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् । तच्च वृद्ध्याद्यर्थकानां धातूनामस्तीति तेऽकर्मकाः । अविवक्षितकर्मादिका अप्यकर्मकाः । यदुक्तम्—

---

१ अकर्मकधातूनित्यर्थः । २ 'दीप्यर्था' इति क० पाठः ।
३ अकर्मकत्वमित्यर्थः ।

" धातो १ रर्थान्तरे वृत्ते धात्व २ र्थेनोपसङ्ग्रहात् ।
३ प्रसिद्धेर ४ विवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिये " ति ॥१॥३०॥

कर्तृकर्माऽऽह—

**णिगः पूर्वं तु यः कर्त्ता ५ स्याण्णिगन्तेषु कर्म सः ।**
**तत्कर्तृकर्म विज्ञेयं पुनरेष्वेव धातुषु ॥ ३१ ॥**

**णिगःपूर्व**मिति । अणिगवस्थायामित्यर्थः । तथा चाऽणिगवस्थायां यः कर्त्ता स णिगवस्थायां कर्म स्यात्, तत्पूर्वं कर्त्ता पश्चात्कर्मेति कर्तृकर्मेत्यर्थः । तादृशं कर्म कुत्रेत्याह—**एष्वेवेति** । वक्ष्यमाणेषु बोधाद्यर्थेषु धातुष्वेव, नाऽन्यत्र । तेनाऽन्यत्र पाचयति देवदत्तेनेत्यादिरेव प्रयोगः ॥ ३१ ॥

एष्वित्युक्तमेव विवृणोति—

**बोधाऽऽहारगतिजल्पार्थनित्या ६ कर्मधातुषु ।**
**भवत्येतद्यथाऽऽचार्यः शिष्यं बोधयति श्रुतम् ॥ ३२ ॥**

**बोधेति** । अर्थशब्दो बोधादिषु प्रत्येकमभि ७ सम्बध्यते ।

---

१ यथा वहिर्गतौ सकर्मकः स्तुतावकर्मकः ।

२ यथा जीव्धातुः प्राणधारणार्थकः । तत्र प्राणरूपकर्मणो धात्वर्थ एवाऽन्तर्भावः ।

३ यथा मेघो वर्षतीत्यादौ वृष्धातुर्जलरूपकर्मणः प्रसिद्धत्वादकर्मकः ।

४ यथा नेह पच्यत इत्यादौ कर्माऽविवक्षायां भावे प्रत्ययः ।

५ 'स्यादणि' इति ग० पाठः । ६ 'कर्मक' इति ग० पाठः ।

७ 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति न्यायादिति बोध्यम् ।

तथा च बोधार्था आहारार्था गत्यर्था जल्पार्था नित्याऽकर्माणश्च ये धातवस्तेष्वेतत्कर्तृकर्म भवतीत्यर्थः । एषु च नित्यमेव कर्तृकर्म भवति । अन्यत्र तु कियत्सु विकल्पेन तदित्यग्रे वक्ष्यति । **नित्याकर्मेति** नित्यग्रहणमविवक्षितकर्मत्वेनाऽकर्मकव्यावृत्त्यर्थम् । यद्यपि देशकालभावाऽध्वनां सर्वेष्वेव धातुषु कर्मत्वमित्यकर्मका धातवो दुर्लभाः, तथापि तद्भिन्नं कर्म येषां न, त एवाऽकर्मका व्यपदिश्यन्त इति बोध्यम् । **जल्पः** शब्दः, तदर्थाः, शब्दक्रिया इत्यर्थः । उपलक्षणमेतत् । तेन शब्दकर्मकेष्वप्यणिक्कर्त्तुः कर्मत्वमिति 'देवदत्तं शब्दं श्रावयती' त्यादयोऽपि प्रयोगा भवन्ति ।

यद्यपि बोधपदेन बोधसामान्यस्य बोधविशेषस्य च ग्रहणे तथा १ व्याख्यानं निष्प्रयोजनम्, श्रुज्ञाऽधीङ्प्रभृतीनां बोधविशेषार्थकतया बोधार्थकत्वादेव 'श्रावयति मैत्रं शब्दम्, अध्यापयति वटुं वेदम्, विज्ञापयति गुरुं वाक्य मि' त्यादौ कर्तृकर्मत्वसिद्धः । अत एव बृहद्वृत्तौ बोधविशेषार्थकेषु "श्रावयति शिष्यं धर्मम्, अध्यापयति शिष्यं शास्त्रमि" त्युदाहृतम् । जल्पयति मैत्रं वाक्यमित्यादावप्युत्पलोक्तरीत्या जल्पिप्रभृतीनां जल्पनाद्यङ्गे बोधने वर्त्तनाद्बोधार्थत्वादेव सिद्धेः, तथापि 'लेखयति शब्दं देवदत्तमि' त्याद्यर्थं तथा २ व्याख्यानमावश्यकमिति ध्येयम् ।

१ उपलक्षणतया व्याख्यानमित्यर्थः ।

२ अत्रैतद् द्रष्टव्यम्—जल्पिप्रभृतिवल्लिखिप्रभृतीनामपि लेखनाद्यङ्गे-

उदाहरणमाह—आचार्य इति। शिष्यो धर्मं बुध्यते, तमाचार्यो बोधयतीति शिष्यमित्यणिक्कर्त्ता णिगि कर्मेति कर्तृकर्मेति भावः ॥ ३२ ॥

बोधश्च सामान्यं विशेषश्चेत्याह—

**[1] बोधार्था अत्र सामान्याज् ज्ञानार्थाः स्यु [2] र्यथा तथा।**
**[3] मता ज्ञानविशेषार्था अपि दृशघ्रा [4] स्पृशादयः ॥३३॥**

सामान्यादिति। बुधविद्ज्ञोपलभवगमादयः। स्पृशादय- इति। आदिना श्रुध्यैस्मृपठप्रभृतयः। एवञ्च बोधसामान्यार्थानां बोधविशेषार्थानां धातूनां चाऽणिक्कर्त्ता णौ कर्मेत्याशयः॥३३॥

गत्यर्थाश्च देशान्तरप्राप्त्यर्था एव, न तु भजनाद्यर्था अपीत्युदाहरणप्रदर्शनेनाह—

**गमयति रमणीं मैत्रो रमणेनाऽत्र गमिरस्ति भजनार्थः।**
**गत्यर्थ एव पार्थं गमयति समरं रमारमणः ॥३४॥**

भजनार्थ इति। एवञ्चेदृशस्थलेऽणिक्कर्त्तुर्णिगि तृतीयैव,देशान्त-

---

बोधने वृत्तिरित्युपपादयितुं शक्यते। एवञ्च जल्पिप्रभृतीनां बोधार्थत्वाच्छ्रु-प्रभृतीनां बोधविशेषार्थत्वाच्च बोधार्थत्वादेव सङ्ग्रह इति जल्पार्थग्रहणं निष्प्रयोजनम्। एवञ्च मन्दबुद्ध्यनुग्रहार्थमेव जल्पार्थग्रहणमिति।

१ 'बोधाहारार्था' इति ग० पाठः। २ 'यथैव हि' इति क० ग० पाठः। ३ 'तथाऽमीन्द्रियगम्यार्था' इति क० ग० पाठः। ४ 'स्पृशघ्ध्यै-स्मृतितुल्यार्था' इति ग० पाठः। 'स्पृशघ्ध्यैस्मृतुल्यार्था' इति क० पाठः।

रप्राप्त्यर्थाऽभावादित्याशयः । **गत्यर्थ** इति । देशान्तरप्राप्त्यर्थः । तथाचेदृशस्थल एवाऽणिक्कर्त्ता णिगि कर्मेत्याशयः ॥३४॥

अतिप्रसङ्गमाशङ्क्य निषेधति—

**खादिक्रन्द्यादिशब्दायि [1] नीह्वा न कर्तृकर्मकाः ।**
**[2] अहिंसने तथा भक्षिर्वहिः कर्त्तर्यसारथौ ॥ ३५ ॥**

**खादीत्यादि** । खादेरदेश्चाऽऽहारार्थत्वात्क्रन्दिशब्दाय्योर्ह्वयतेश्च जल्पार्थत्वान्नीधातोश्च गत्यर्थत्वात्प्राप्तं कर्तृकर्म न भवतीत्यर्थः । न च नीधातोर्गत्यर्थत्वाऽभावः, प्रापणायाः प्राप्त्यनुकूलव्यापाराऽनुकूलव्यापाररूपत्वात्प्राप्तेश्च गतिपर्यायत्वात् । भक्षधातुर्यदा न हिंसार्थस्तदा न तत्राऽऽहारार्थत्वात्प्राप्तं कर्तृकर्म, हिंसार्थत्वे तु भवत्येव । तथा वहेर्यदा सारथिर्न कर्त्ता तदा तत्र प्राप्तौ नयतिवत्प्रापणे च गत्यर्थत्वादकर्मकस्य च नित्याऽकर्मत्वात्प्राप्तं कर्तृकर्म न भवति । सारथिकर्तृत्वेऽविवक्षितकर्मत्वे च नित्यमेव भवति । भक्षणस्य हिंसात्वं च प्राणोपघातात्मत्वे तदनुबन्धित्वे च बोध्यम् ।

**कर्त्तर्यसारथा**वित्युपलक्षणत्वाद्वाहनत्वेन प्रसिद्धो बलीवर्दादिर्यदाऽणिगन्तस्य वहेः कर्त्ता तदा तत्र णिगि स कर्म भवतीत्यर्थः । सारथिपदेन हि प्रसिद्धस्य बलीवर्दादेर्वाहनस्य वाहनक्रियायां नियोक्तृमात्रं गृह्यते, न तु रूढः सूत एव । अत एव वाहयति भारं बलीवर्दान् मैत्र इत्यपि वाक्यम् । अत एवोपलक्षणतया व्याख्यातम् ।

---

१ 'शब्दाया' इति क० पाठः । २ 'वहोऽसार्थिककर्तृत्वे तथा भक्षिरहिंसने' इति क० पाठः ।

ततश्च वाहयति भारं चैत्रेणेत्येव प्रयोगः, चैत्रस्य वाहनत्वेनाऽप्रसिद्धे-रिति बोध्यम् ॥ ३५ ॥

उदाहरणमाह —

**यथा खादयति [१] खाद्यं पुत्रेण प्रीतिमान् पिता ।**
**यथा वाहयति ग्रामं भारं भृत्येन भूपतिः ॥ ३६ ॥**
**शस्यं वाहयति ग्राममुक्षाणं सारथिः पुनः ।**
**यथा भक्षयति प्रीत्या चैत्रो मैत्रेण मोदकान् ॥३७॥**
**[२] भक्षयति पुनः कोऽपि कीटकान् गृहकुक्कुटम् ।**

**पुत्रेणेति** । अत्र खादेर्ण्यन्ते कर्तृकर्मतानिषेधात्पुत्रात्कर्त्तरि तृतीया । वहेश्च ण्यन्ते भृत्यस्य वाहनत्वाऽभावान्न कर्तृकर्मतेति ततः कर्त्तरि तृतीया । उक्ष्णश्च वाहनत्वात्तस्य कर्तृकर्मता । **मैत्रेणेति** । मोदकभक्षण-स्याऽहिंसात्वात्तत्कर्त्तुस्तृतीया । कीटभक्षणस्य च हिंसात्वात्तत्कर्त्तुः कर्मता ॥३६॥३७

सम्प्रति विकल्पेन यत्र कर्तृकर्म, तदाह—

**कर्त्ता हृक्रोरपि [३] ण्यन्ते कर्म वा जायते यथा ॥ ३८ ॥**
**भारं भृत्येन भृत्यं वा ग्रामं [४] हारयति नरः ।**

**हृक्रोरपीति** । हृधातोः कृधातोश्चेत्यर्थः । **अपीति** पूर्व-स्माद्विशेषद्योतनार्थः । तदाह—**ण्यन्ते** इति । अणिक्कर्त्ता ण्यन्ते वा

१ 'ते' इति क० ग० पाठः । २ 'पुनर्भक्षयते कोऽपि कीटकान् गृहकुक्कुटमि' ति क० ग० पाठः ।
३ 'प्रीनन्ते' इति क० ग० पाठः । ४ 'ते' इति क० ग० पाठः

कर्म भवति । उदाहरणमाह– **भारमिति** । अत्राऽणिक्कर्त्तुर्भृत्यस्य कर्मत्वे द्वितीया, तद्विकल्पे च तृतीया ।

अत्रेदं बोध्यम्–हरते 'हारयति द्रव्यं मैत्रमि' त्यादौ 'विहारयति मुनिं महीमि' त्यादौ च गत्यर्थत्वात्, 'आहारयति बालमोदनमि' त्यादौ चाऽऽहारार्थत्वात्प्राप्तं चौर्याद्यर्थकत्वे चाऽप्राप्तम्, एवं करोते १ 'विकारयति सैन्धवानि' त्यादौ नित्याकर्मत्वात्, 'विकारयति स्वरं क्रोष्टूनि' त्यादौ च जल्पार्थत्वात्प्राप्तमुत्पादनाद्यर्थकत्वे चाऽप्राप्तं कर्तृकर्म विकल्प्यते ।

उदाहरणमाह— **भारमिति** । हरतेरणिगः **कर्त्तुर्भृत्यस्य** णिगन्ते कर्तृकर्मता, तद्विकल्पे चाऽनुक्तकर्त्तरि तृतीया ॥ ३८ ॥

**कर्त्ताऽऽत्मनेपदे दृश्यभिवाद्योः कर्म वा भवेत् ॥३९॥**
**लोकं लोकेन वाऽऽत्मानं नृपो दर्शयते यथा ।**
**अभिवादयते पूज्यं पुत्रं पुत्रेण वा यथा ।**
**कश्चिच्चौरादिकस्याऽप्यभिवादेः २ कर्म वेच्छति३॥४०॥**

**आत्मनेपदे** इति । आत्मनेपदविषये दृशेरभिपूर्वाद्वदेश्चाऽणिक्कर्त्ता णौ वा कर्म भवतीत्यर्थः । आत्मनेपदविषयता च तयो-

१ 'सैन्धवा विकुर्वते, क्रोष्टारः स्वरं विकुर्वते' इत्यणिगवस्थायां वाक्यम् ।

२ 'दः कर्म वेष्यते' इति ग० पाठः । 'देः कर्म वेष्यते' इति क० पाठः । ३. षट्पदी ।

रणिक्कर्मणोर्णिगि कर्तृत्वे सम्भवतीति बोध्यम् ।

क्रमेणोदाहरणमाह—**लोक**मिति । लोको नृपं पश्यति, तमनुकूलाचरणादिना कृत्वा राजा स्वयं प्रयुङ्क्ते इति, तथा पुत्रः पूज्यमभिवदति, तं पूज्यः स्वयं प्रेरयतीति च विवक्षायामणिक्कर्मणो णिगि कर्तृत्वादात्मनेपदम् । तत्र चाऽणिक्कर्त्तुर्णिगि कर्मता, अन्यस्याऽपि च प्रयोजकत्वे फलवत्कर्त्तर्यात्मनेपदसम्भव इति नृपं दर्शयते लोकं लोकेन वा, पुत्रमभिवादयते पूज्यं पुत्रेण वा मैत्र इत्येवमप्युदाहरणं बोध्यम् ।

**चौरादिकस्येति** । णिजन्तस्येत्यर्थः । यथा अभिवादयति गुरुः शिष्यम्, अभिवादयते गुरुं देवदत्तो गुरुणा वा । णिगन्तस्याऽपि कश्चित् । तन्मते च–अभिवदति गुरुराशिषम्, तं शिष्योऽभिवादयते, तं च मैत्रः प्रयुङ्क्ते इत्यभिवादयते गुरुमाशिषं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः । अन्यश्च नामधातोरप्यभिवादयतेरिच्छति ॥ ४० ॥

(तथा)

**वा [१] कर्मत्वमणिक्कर्त्तुरविवक्षितकर्मणाम् ।**
**पाचय [२] त्येष मैत्रेयश्चैत्रं चैत्रेण वा यथा ॥ ४१ ॥**

**अणिक्कर्त्तुरिति** । णिगीति शेषः । **अविवक्षितकर्मणामिति** । धातूनामिति शेषः । अविवक्षितकर्मतयाऽकर्मकाणां धातू-

१ 'वा कर्मत्वमणिन् कर्त्तुरि' ति क० पाठः 'वा कर्मकत्वमणिन् कर्त्तुरिति ग० पाठः । २ 'त्येषु' इति ग० पाठः ।

नामित्यर्थः । नित्याकर्मकाणां तु नित्यमेवेति प्रागेवोक्तम् । अत एव तत्र नित्यग्रहणम् । यद्यपि तत्र नित्यग्रहणाऽभावेऽपि न क्षतिः, अविवक्षितकर्मणां वेत्युक्त्या परिशेषात्तत्र नित्याऽकर्मकाणामेव ग्रहणादिति विचारणीयम् । अविवक्षितकर्मता च किं करोतीति व्यापारमात्रप्रश्ने तदुत्तरयितुस्तावन्मात्रमेवोत्तितीर्षितम्, अन्यथाऽनपेक्षितभाषितयोन्मत्तत्वापत्तिरिति शब्देन कर्मणोऽसमर्पणाद्बोध्या । यदुद्धृतं प्राक्—

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिये" ति ॥ १ ॥

उदाहरणमाह—**पाचयतीति** । अत्र चैत्रकर्तृकपचनानुकूलव्यापारमात्रं विवक्षितमिति तस्याऽणिक्कर्तुर्णिगि वा कर्मता । विकल्पपक्षेऽनुक्तकर्तृत्वात्तृतीया ॥ ४१ ॥

सम्प्रति कर्मणः कथमुक्तत्वमित्याकाङ्क्षायां विशेषविवक्षयाऽऽह-

**त्यादिनाऽथ समासेन तद्धितेन कृताऽपि च ।**
**उक्तत्वं कर्मणः कुम्भः कुलालैः क्रियते यथा ॥ ४२ ॥**
**आरूढवानरो वृक्षः शत्यश्च शतिकः पटः**
**कृतः कटस्तैः—**

**त्यादिनेति** । त्यादिघटकेन कर्मणि विहितेनाऽऽत्मनेपदसंज्ञकेन तेप्रभृतिप्रत्ययेनेति बोध्यम् । परस्मैपदसंज्ञकस्य त्यादेः कर्तर्येव विधानात्तेन कर्मण उक्तत्वाऽसम्भवात् । क्रमेणोदाहरणान्याह—**कुम्भ** इति । कर्मणि द्वितीया विधीयते, कर्मरूपोऽर्थश्च तेप्रत्ययेनोक्त

इत्युक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायान्न कर्मार्थकाद् द्वितीयाविधानम् । किन्तु नामार्थे प्रथमैव । **आरूढेति** । आरूढो वानरो यमिति बहुव्रीहिणैव कर्मार्थस्योक्तत्वान्न वृक्षनाम्नो द्वितीया । **पट** इति । शतेन क्रीत इत्यर्थे विहिताभ्यां तद्धितसंज्ञकाभ्यां येकाभ्यामेव कर्मोक्तमिति पटपदान्न द्वितीया ।

**कट** इति । क्तप्रत्ययेन कृत्संज्ञकेन कर्मोक्तमिति कटशब्दान्न द्वितीया ।

१ कृतं पश्येत्यादौ तु क्तप्रत्ययेन करोतिक्रियाया एव कर्मोक्तम् । तादृशक्तप्रत्ययोक्तकर्मसहितं द्रव्यञ्च दर्शनक्रियाकर्माऽनुक्तमेवेति तदर्थात्कृतशब्दाद्दर्शनक्रियाकर्मणि द्वितीया । —

न चैवं घटं कृतं पश्येत्यादौ घटपदान्न द्वितीया सम्भवति, क्तप्रत्ययेन घटकर्मण उक्तत्वादिति वाच्यम् । पश्यन् हि घटमपि पश्यति कृतमपीति यद्यत्क्रियया व्याप्तुमिष्टं तत्सर्वं कर्मेति सर्वेषां पृथक्पृथक्कर्मत्वे प्रत्येकं द्वितीया, क्तप्रत्ययेन घटगतस्योत्पादनाश्रयत्वरूपस्यैव कर्मण उक्तत्वाद् दर्शनाश्रयत्वरूपस्य कर्मणोऽनुक्तत्वात् ।

नन्वेवं घटे उभयी कर्मशक्तिरिति तत्र द्वितीयैव न प्रथमेत्यत्र विनिगमनाविरह इति चेन्न । ग्रामो गन्तुमिष्यत इत्यादौ प्रधानक्रियाविषयायाः कर्मशक्तेरुक्तत्वे गुणीभूतक्रियाविषयाया अपि तस्या उक्तत्व-

---

१ ननु कर्मण उक्तत्वे द्वितीयाया अभावे 'कृतं पश्ये' त्यादौ सा न युज्यते, क्तप्रत्ययेन कर्मण उक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-कृतं पश्येत्यादौत्विति ।

वत्प्रधानक्रियाविषयायास्तस्या अनुक्तत्वेऽप्रधानविषयाया अप्यनुक्तवत्प्रतिभासात् ।

१ किञ्च प्रधानक्रियापेक्षक्ताऽनुक्तप्रधानशक्त्यनुरोधेनैव विभक्तिप्रवृत्तिः । कारकाणां प्रधानक्रियाऽनुरोधित्वात्तदर्थकविभक्तेरपि तदनुरोधेनैव प्रवृत्तेरौचित्यात्, प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्तीति न्यायादितिदिक् ।

अथ कृतपूर्वी कटमित्यादौ क्तप्रत्ययेन कर्मण उक्ततया कथं द्वितीयेति चेत्, इदमत्र बोध्यम्–नाऽत्र कृतेतिक्तान्तेन कटस्य योगः, तस्य वृत्तत्वाद् वृत्तस्य च २ विशेषणायोगात् । न च कर्माऽसम्बन्धे क्तो दुर्लभः, कर्मविशेषसम्बन्धाऽनपेक्षतया, भावे वा तद्विधानात् । एवंच कृतं पूर्वमनेनेति कृतपूर्वीति प्रसाध्य पश्चात्किमिति करोतिक्रियाफलाश्रयजिज्ञासायां कटमित्यनुप्रयुज्यते, ततश्च करोतिक्रियाव्याप्यतया कटस्य कर्मत्वं करोतिक्रियावता कर्त्राऽन्वयश्च । न चोपसर्जनीभूतक्रियायाः कर्मणा नाऽभिसम्बन्धः, ग्रामं गतो देवदत्तो भोक्ष्यत इत्यादौ कर्तृविशेषणतयोपसर्जनीभूताया अपि गत्यादिक्रियाया

---

१ ननु प्रधानक्रियाविषयायाः कर्मशक्तेरनुक्तत्वेऽप्रधानक्रियाविषयायास्तस्यास्तत्त्वमयुक्तम्, द्वयोर्भेदाद्भिन्ननिमित्तत्वात्, विनिगमनाविरहाच्चाऽप्रधानक्रियाविषयाया उक्तत्वात्प्रधानक्रियाविषयाया अपि कर्मत्वशक्तेरुक्तवत्प्रतिभास इत्येवं वक्तुं शक्यत्वाच्चेत्यपरितोषादाह–किञ्चेति ।

२ तथा च वार्तिकम्–"सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य च विशेषणयोगो न" इति । यत्तु कृतपदस्य कटसापेक्षत्वे 'सापेक्षमसमर्थवदि' त्यसामर्थ्याद् वृत्तिरेव न स्यादिति, तन्न । नित्यसापेक्षस्थले 'देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादिवद् वृत्तेः सम्भवात् ।

ग्रामादिकर्मणा सम्बन्धस्य स्पष्टमुपलम्भात् । तदेतत्सर्वं मनसि निधायोक्तं हरिणा—

"विशेषकर्मसम्बन्धे निर्भुक्तेऽपि कृतादिभिः ।
विशेषनिरपेक्षोऽन्यः कृतशब्दः प्रवर्त्तते" ॥ १ ॥
"अकर्मकत्वे सत्येवं क्तान्तं भावाऽभिधायि तत् ।
ततः क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणाम्" ॥ २ ॥
"अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः ।
क्रिया सम्बध्यते तद्वत्कृतपूर्व्यादिषु स्थिता" ॥ ३ ॥

इति । अधिकमग्रे वक्ष्यते ।

ननु णिगन्तस्योक्तरीत्या द्विकर्मकत्वात्ततः कर्मणि प्रत्यये सति कस्य कर्मण उक्तत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

**एकस्याऽथवा धातो द्विकर्मणः ॥ ४३ ॥**
**उभयोरप्युक्तत्वं बोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मवताम् ।**
**इति सति शिष्यो धर्मं शिष्यं वा बोध्यते धर्मः ॥४४॥**
**अतिथि र्भोज्यत ओदनमतिथिं वा भोज्यते त्वयौदनकः ।**
**शिष्यो ग्रन्थं पाठ्यत इति शिष्यं वाऽपि,**
**पाठ्यते ग्रन्थः ॥ ४५ ॥**

**एकस्येति** । द्विकर्मणो धातोरेकस्य, अथवा बोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मवतामुभयोरप्युक्तत्वमित्यन्वयः । द्विकर्मण इति णिगन्तस्येत्यर्थः । द्विकर्मकेषु दुहादिषूक्ताऽनुक्तत्वव्यवस्थायाः पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात्प्रकरणाच्चेति बोध्यम् । **अथवेति** तथेत्यर्थे, निपातानामनेकार्थ-

स्वात् । स च भिन्नक्रमः । बोधेत्यादौ णिगन्तानामिति शेषः । **एकस्ये**ति । [१] मुख्यस्येत्यर्थः । **उभयोरि**ति । गौणमुख्ययोर्द्वयो-रित्यर्थः । पर्यायेणेति [२] शेषः । तदत्राऽयं निर्गलितोऽर्थः–णिगन्तानां बोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मकाणामुभयोरपि कर्मणोः पर्यायेणोक्तत्वम्, तद्भिन्नानां तु मुख्यस्येति । तथा च कर्मण उक्तत्वविषये सङ्ग्रहश्लोकः–

**"गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम् ।**
**बुद्धिभक्षार्थयोः शब्दकर्मकाणां निजेच्छया ।**
**प्रयोज्यकर्मण्यन्येषां ण्यन्तानां ला (ल्या) दयो मताः ॥ १ ॥**

इति । मतान्तरे त्वन्येषामपि ण्यन्तानां निजेच्छयेति बोध्यम् । **शब्दकर्मवता**मिति । शब्दो जल्प एव कर्म–क्रिया व्याप्यं च, तद-स्त्येषामिति शब्दकर्मवन्तस्तेषाम्, जल्पकर्मणां जल्पार्थानां चेत्यर्थः । यद्यपि "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकर" इति वामनः । तथाप्यनरवन्ति चक्राणीतिवत्समाधेयम् । **इति सतीति** । एवं सतीत्यर्थः । बोधार्थादीनामुभयोः पर्यायेणोक्तत्व इति यावत् । उभयथा वाक्यमाह–**शिष्यइत्यादिना** । मुख्ये कर्मणि प्रत्यये शिष्यरूपान्मुख्यकर्मणः प्रथमा । गौणे तु प्रत्यये गौणात्क-र्मणो धर्मात्प्रथमा । एवमन्यत्राऽपि बोध्यम् । **ओदनक** इति । स्वार्थे कः ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

---

१ नत्वन्यतरस्य, गौणमुख्ययो मुख्ये कार्यसंप्रत्ययात् । न चैकेत्यस्य मुख्यार्थत्वं नेति युक्तम्, 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च' इति कोशात् ।

२ सकृदुच्चरितस्य शब्दस्य सकृदर्थबोधकत्वनियमादिति बोध्यम् ।

अथ बोधाऽऽहारार्थशब्दकर्मवतामुभयोरप्युक्तत्वमित्युक्तम्, ततश्च पारिशेष्याद् द्विकर्मणो धातोरेकस्येति गत्यर्थाऽकर्माणं एव णिगन्ता गृह्यन्ते। तत्स्पष्टप्रतिपत्तये स्वयमेवाऽऽह—

**गत्यर्थाऽकर्मकाणां स्यादित्युक्तं कर्म मुख्यकम्।**
**ग्रामं गम्यः स तै मैत्रस्तैर्मैत्रो मासमास्यते ॥४६॥**

**गत्यर्थेति**। गत्यर्थाऽकर्मकाणां मुख्यकं कर्मोक्तं स्यादित्यन्वयः। **मुख्यकमि**ति। मुख्यमित्यर्थः। स्वार्थे कः। इतीत्युदाहरणप्रदर्शने भिन्नक्रमः। गत्यर्थानामकर्मकाणां च णिगन्तानां मुख्यं कर्मोक्तं स्यादित्यर्थः। तत्रोदाहरणमाह—**ग्राममि**ति। अत्र णिगन्तस्य मुख्यकर्मणि ये उक्ततया ततः प्रथमा। आस्यत इत्यकर्मकाण्णिगन्तात्कर्मणि तेप्रत्यये मुख्यकर्मणो मैत्रस्योक्ततया ततः प्रथमा ॥४६॥

उपसंहरन् गौणस्याऽप्युक्तत्वमाह—

**[1] षट्कारकेष्विति प्रोक्तमन्यद्वा वक्ति कर्मजः।**
**ग्रामो गम्यः स तै मैत्रं तै मैत्रं मास [2] आस्यते ॥४७॥**

**षडिति**। **इति**—उक्तप्रकारमुख्यत्वम्, षट्सु कारकेषु प्रोक्तम्। तथा च यथा कर्मणि प्रत्यये कर्मणः कर्त्तरि प्रत्यये च कर्त्तुरुक्तत्वम्, तथा करणे प्रत्यये करणस्य, यथा स्नानीयं चूर्णमित्यादौ, सम्प्रदाने प्रत्यये सम्प्रदानस्य, यथा दानीयो विप्र इत्यादौ, अपादाने प्रत्ययेऽपादानस्य, यथा भीमः सिंह इत्यादौ, अधिकरणे प्रत्ययेऽधि-

१ 'ष्वि' ति क० पाठः। २ 'मा' इति ग० पाठः।

करणस्य, यथा तृणानि शय्येत्यादौ चोक्तत्वमिति सर्वत्र प्रथमैव ।
१ णिगन्तकर्मविषये विशेषमाह—**अन्यदिति** । **वेति** विकल्पे । **कर्मजः** प्रत्ययः, अन्यद् गौणं वक्तीत्यपि पक्षः । गौणमुख्यते च कर्मणो गौणमुख्यक्रियाऽपेक्षतया । तथा च गौणगत्यादिक्रियापेक्षकर्मत्ववतो ग्रामादेः कर्मणि प्रत्यये उक्तत्वात् 'तै मैत्रं स ग्रामो गम्यः, तै मैत्रं मास आस्यत' इत्युभयत्र प्रथमान्तता ।

ननु मुख्यस्यैवोक्तता युक्ता, गौणमुख्यन्यायादिति चेत्, अत्रेदमवधेयम्—णिगन्तस्थले द्वयोः कर्मणो गौणमुख्यभावोऽनियतः, यतो यदाऽर्थस्य प्रातिपादकः शब्द इति शब्दस्य प्राधान्यमिति मतम्, तदा शब्देनाऽभिधया प्राधान्येन प्रतिपाद्यः प्रयोक्तृव्यापार एव प्रधानमिति-तज्जन्यफलाश्रयस्य प्रयोज्यस्य मुख्यत्वम् । यदा त्वर्थप्रत्यायनाय शब्दप्रयोग इत्यर्थस्यैव प्राधान्यमिति मतम् । तदा प्रयोज्यव्यापारस्यैव प्राधान्यं न तु प्रयोजकव्यापारस्य, तस्य प्रयोज्यव्यापाराऽतिशयार्थत्वादिति प्रयोज्यव्यापारजन्यफलाश्रयस्यैव प्राधान्यम् ।

ननु युक्तिबलाद्यस्य प्राधान्यनिर्णयस्तस्यैव मुख्यत्वमेष्टव्यमिति चेन्न । उभय्या एव गते वैयाकरणपरम्पराप्राप्तत्वात्तथा वाक्ये प्रयोगाच्च स्वयुक्तिबलेन निर्णयस्याऽनुचितत्वात् । अन्यथैकतरस्याऽसा-

१ न चैषा स्वमनीषिका, कारिकायां कर्मज इति सामान्येनैवोक्तेरिति वाच्यम् । द्विकर्मकभिन्नस्थलेऽन्यस्य कर्मणोऽसम्भवाद् द्विकर्मके च दुह्यादुक्ताऽनुक्तत्वव्यवस्थायाः प्रागेव कृतत्वात्पारिशेष्यात्प्रकरणाच्च णिगन्तकर्मविषय एवैतद्विशेषप्रदर्शनमित्यवधेयम् ।

धुत्वाऽऽप्तेरिति पर्यायेणोभयत्रैवोक्तत्वमेष्टव्यमिति णिगन्तस्थले सर्वत्रैव पर्यायेणोक्तत्वमिति ॥ ४७ ॥

सम्प्रत्युपसंहरन् सङ्कलयति—

**इत्येतत्प्राप्यं निर्वर्त्यं विकार्यं प्रथमं त्रिधा ।**
**[१] इष्टाऽनिष्टाऽनुभयतो [२] नवधा जायते [३] च तत् ॥४८॥**
**प्रधानेतरभेदाभ्यां तदष्टादशधा पुनः ।**
**इति कर्मप्रपञ्चोऽयं सङ्क्षेपाद्दर्शितो मया ॥४९॥**

**इतीति** । उक्तरीत्येत्यर्थः । **एतदिति** । कर्मेत्यर्थः । **प्रथममिति** । मूलत इत्यर्थः । **नवधेति** । प्रत्येकं त्रिविधमिति गुणनतो नवधेत्यर्थः । **इतरेति** । गौणेत्यर्थः । **तदिति** । नवधा कर्मेत्यर्थः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

---

१ 'क्रियाविशेषणस्याऽपि सकर्मकाऽकर्मधातुषु ।
नपुंसकत्वमेकत्वं कर्मत्वं तत्प्रयुज्यते ॥ १ ॥
यथा स्तोकं पचत्येषा ब्राह्मणी सर्वमत्ति च ।
शीघ्रमुत्पाद्यते कुम्भः सुखं जीवति गौर्गलिः' ॥ २ ॥

इति श्लोकद्वयमधिकमत्र पठ्यते क० ग० पुस्तके । किन्त्वत्र क्रियाविशेषणानां कर्मत्वोक्तिः प्रामादिकी । शास्त्रकारैरननुशासनात्, 'अथो पचति शोभनं ते भार्या' इत्यादौ विकल्पेन 'ते मे' इत्यादिविधानं मा भूदिति तत्र द्वितीयाविभक्तिमात्रमेवाऽनुशिष्टम् । कर्मत्वे च 'शोभनं पक्ते' त्यादौ कृद्योगे षष्ठ्याः 'मन्दं गन्ते' त्यादौ चतुर्थ्याश्चाऽऽपत्ते र्व्याख्यात्रा तदुपेक्षितमिति बोध्यम् ।

२ 'यमेदैरि' ति क० ग० पाठः । ३ 'हि' इति क० पाठः ।

अथ बोधसौविध्यनिमित्तं कर्मसंज्ञाविषये द्वितीयाविधिविषये च विशेषः सङ्गृह्योच्यते—

आत्मनेपदिनो नाथेः प्रतियत्ने तथा कृगः ।
स्मरणार्थकस्य धातोरीशेश्च दयतेरपि ॥ १ ॥
जासनाटक्राथपिषां हिंसाविषयवर्त्तिनाम् ।
समस्तव्यस्तव्यत्यस्तनिप्रपूर्वाद् हनेस्तथा ॥ २ ॥
ज्वरिसंतापिवर्जस्य सिद्धे भावे च कर्त्तरि ।
रुजार्थस्य च यद्व्याप्यं मतं वा कर्म तद्बुधाम् ॥ ३ ॥
हरते र्व्यवपूर्वस्य तथा व्याप्यौ पणायतेः ।
विनिमेयद्यूतपणौ चेत्तौ द्वौ कर्म वा तदा ॥ ४ ॥
सोपसर्गदिवेश्चाऽपि द्यूते जेयं [1] यदा भवेत् ।
विनिमेयं तथा व्याप्यं तदा तत्कर्म वा मतम् ॥ ५ ॥
दिवे र्निरुपसर्गस्य [2] तद्द्वयं कर्म नेष्यते ।
सह [3] क्रमाच्च करणं करणं चाऽथ कर्म च ॥ ६ ॥
प्रबोधं नाथसे चेदुपस्कुरुष्व शीलै र्निजात्मानम् ।
स्मर भूयो जैनगिरं दयस्वाऽभयं मनोऽपि चेशिष्व ॥ ७ ॥

---

१ यदा द्यूते जेयं तथा विनिमेयं व्याप्यं भवेदित्यन्वयः ।

२ द्युते जेयं विनिमेयं चेत्येतद् द्वयमित्यर्थः ।

३ दिवेर्निरुपसर्गस्येति सम्बध्यते । ततश्च दिवेर्निरुपसर्गस्य करणं सह-युगपत्करणं च कर्म च, क्रमाच्च करणं च कर्म चेत्यर्थः ।

क्राथय नाटय जासय पिण्ढि निजहि निप्रजहि जन्तून् ।
जनमेवं कथयन्तं परत्रेह च [१] दुष्कृती रुजति ॥ ८ ॥
व्यवहारदुरोदरयो र्व्यवहरति पणायति प्रदीव्यति च ।
वणिक्च जाल्मश्च शतं स्वमतिनियोगात्सहस्रं वा ॥ ९ ॥
उक्तानां वाक्यानां यस्मात्कर्मसंज्ञा पदात्तस्मात् ।
तस्या विकल्पपक्षे शेषे षष्ठी विधातव्या ॥ १० ॥
विवक्षया सिद्धाया अपि विहितः कर्मविकल्पो यत्नः ।
सति सम्भव ईदृश्याः स्यान्न समासो यथा षष्ठ्याः ॥ ११ ॥
श्रेष्ठी शतस्य दीव्यति जाल्मोऽपि च तथाऽक्षैरथो अक्षान् ।
मैत्रोऽक्षै र्देवयते चैत्रेण यदक्षशौण्डतमः ॥ १२ ॥
कर्मनिषेधे तु षष्ठी क्रमात्तथा करणकर्मते परतः ।
करणत्वाच्च तृतीयाऽभावश्च परस्मैपदकर्मतयोः ॥ १३ ॥
अधेः शीङ्स्थाऽऽस आधार उपाऽन्वध्याङ्वसस्तथा ।
कर्मसंज्ञोऽभिनिविशो विकल्पेन [२] स एव सः ॥ १४ ॥
अधितिष्ठत्यधिशेतेऽध्यास्तेऽधिवसत्युपवसति ग्रामम् ।
वसतिरिहाऽनदादिः स्थानार्थश्चाऽप्यभिप्रेतः ॥ १५ ॥
स ग्राममभिनिविशते कल्याणे चेति न चैकत्र [३] मते ।

---

१ दुष्कृतिरिति । अशुभा कृतिरित्यर्थः । दुष्कृतिरिति सिद्धो भावो नतु साध्यः, 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशते' इति भाष्योक्तेः ।

२ स आधार एव सः कर्मसंज्ञ इत्यर्थः ।

३ एकत्रैव शब्दे कर्माऽऽधारत्वे इतीमे द्वे विकल्पेन न मते । किन्तु

द्वे कर्माऽधारत्वे यतो व्यवस्थितविभाषेयम् ॥ १६ ॥
कालाऽध्वभावदेशा आधाराः कर्मसंज्ञका वा स्युः ।
अकर्मकधातुयोगे ते च तथाऽकर्मसंज्ञकाः [१] सह वा ॥ १७ ॥
कालो ज्ञेयो मुहूर्त्तादिस्तथाऽध्वा योजनादिकः ।
सिद्धक्रियेह भावश्च देशो ग्रामादिकः पुनः ॥ १८ ॥
मासमास्ते देवदत्तः क्रोशश्चैत्रेण सुप्यते ।
गोपेन स्थीयते गोष्ठः केसरी राजते वनम् ॥ १९ ॥
दीपेन दीप्यते रात्रिं पक्षे ज्ञेयैषु सप्तमी ।
विषये कर्मसंज्ञाया विशेषोऽयं प्रदर्शितः ॥ २० ॥
गौणादेव द्वितीयाद्याः कर्मादेः स्युर्विभक्तयः ।
नामार्थमात्रे सर्वत्र मुख्यतः प्रथमा मता ॥ २१ ॥
लक्षणार्थे येनतेनावन्तरेणाऽन्तरेत्युभौ ।
निपातौ समयाहाऽतिप्रतिधिग्रुनिकषास्तथा ॥ २२ ॥
एतै योगे द्वितीयैव गौणान्नाम्नो विधीयते ।
अव्ययेनेदृशाऽन्येन योगेऽपि क्वचिदिष्यते ॥ २३ ॥
हा मैत्रं वर्धते व्याधिरति मृत्युं स जीवति ।
प्रति भाति न किञ्चिन्मामन्तरा तच्चिकित्सनम् ॥ २४ ॥

---

यत्र कर्मत्वं तत्र तदेव, यत्र चाऽऽधारत्वं तत्र तदेव। एवञ्च ग्रामेऽभिनिविशते इत्येवं न प्रयोगः, कल्याणमभिनिविशते इत्येवमपि न प्रयोग इत्याशयः ।

१ युगपदेव कर्मसंज्ञाऽकर्मसंज्ञा च विकल्पेनेत्यर्थः ।

अन्तरेण कथं मैत्रं पत्नी वर्त्तेत, धिग् विधिम् ।
समया पितरं तस्य मातरं निकषाऽस्तु कः ? ॥ २५ ॥
येन जातो भुवं जन्तुः प्राप्तस्तेनेदृशीं दशाम् ।
१ आधिव्याधी भवं यावन्मुक्तये तत्प्रयस्यताम् ॥ २६ ॥
द्विरुक्ताऽधोऽध्युपरिभिस्तसन्तसर्वोभयाऽभिपरिभिश्च ।
युक्ताद् गौणन्नाम्नो ज्ञेया द्वितीया नियमेन ॥ २७ ॥
ग्राममधोऽधो ग्रामाः क्षेत्राणीह सन्त्यध्यधि ग्रामम् ।
उपर्युपरि चाऽरण्यं सर्वतः सरांस्युभयतो नद्योऽपि ॥ २८ ॥
अभिना युक्तान्नाम्नो २ लक्षणवीप्स्येत्थंभूतार्थेषु ।
भागिनि च प्रतिपर्यनुभि भवति द्वितीया वृत्तिमतः ॥ २९ ॥
द्योतते तरुमभि तडिद् वृक्षं वृक्षमनु मालिकः सिञ्चति ।
साधुः शिशुः प्रसूं प्रति ३ स्वं परि सो दत्ते दीनाय ॥ ३० ॥
४ जनकसहार्थविषययो र्वृत्ताद् द्वितीयाऽनुयुक्ताद् गौणात् ।
तुल्ययोगः सहार्थो विद्यमानता चाऽत्र ज्ञातव्या ॥ ३१ ॥
भक्तिमनु शर्मलाभाज्जिनजनुर्महोऽनु निर्जरा एयुः ।
देवाननु देवेन्द्रा व्यधु र्यथाविधि जिनस्नात्रम् ॥ ३२ ॥

---

१ अन्येन योगेऽपीति यदुक्तं तदुदाहरणमाह – आधीत्यादि । अत्र भवपदाद् यावच्छब्दयोगे द्वितीया ।

२ लक्षणं ज्ञापकम्, वीप्स्यं यद्वीप्स्यते तत्, इत्थंभूतः किमपि प्रकारं प्राप्तः । ३ स्वं भागमित्यर्थः ४ जनकः फलोपधायकः ।

अनूपाभ्यां च युक्तादुत्कृष्टार्थकाद् द्वितीया गौणात् ।
अनु सिद्धसेनं कवय उपोमास्वातिं सङ्ग्रहीतारः ॥ ३३ ॥
गौणान्नाम्नः कालादध्वनश्च द्वितीया विज्ञेया ।
गुणक्रियाद्रव्यैश्चेन्निरन्तरसम्बन्धो द्योत्यः ॥ ३४ ॥
मासमधीते क्रोशं गिरि र्नदी योजनं कुटिला ।
कश्चिदन्यो विशेषः परिशिष्टे वक्ष्यते शिष्टः ॥ ३५ ॥

करणकारकं विवृण्वन्नाह—

**करणं [1] क्रियते येन बाह्यमाभ्यन्तरं द्विधा ।**
**व्रीहीन् लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा ॥ ५० ॥**

क्रियत इति । यद्व्यापाराऽव्यवधानेन क्रियासिद्धि र्विवक्ष्यते तदित्यर्थः । अन्यथा कारकमात्रस्यैव क्रियासिद्धौ साधनभावादतिव्याप्त्यापत्तेः । यदुक्तम्—

"क्रियायाः परिनिष्पत्ति र्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतमि" ति ॥ १ ॥

व्यापारवत्कारणमित्येव तु न करणलक्षणमत्र शास्त्रे, क्रियासिद्धौ कारकमात्रस्यैवावान्तरव्यापारवत्त्वात् ।

नन्वेवमेतत् । किन्तु किञ्चित्कारकं व्यवधानेन, किञ्चिच्चाऽव्यवधानेन क्रियासिद्धौ व्यापारवत् । यथा छिदिक्रियायां देवदत्तादिव्यापारो वास्यादिव्यापारेण सव्यवधानः, वास्यादिश्चाऽव्यवधानेन तत्र व्यापारवान् । स एव च करणम् । एवञ्चाऽव्यवधानेन व्यापार-

---

१ 'क्रियते येन तत्करणं तद्बाह्याऽभ्यन्तरं द्विधे' ति क० ग० पाठः ।

त्कारणं करणमित्येवोच्यताम् । ततश्च विवक्ष्यत इत्यधिकम्, १ तादृशस्य करणत्वनियमात्, नहि वास्यादिश्छिदिक्रियायां कदाचिदप्यकरणमिति चेन्न । एवं सति पाकक्रियायां काष्ठादेरिव स्थाल्यादेरपि युगपदेव करणत्वं स्यात्, पाकक्रियायामव्यवधानेन व्यापारवत्त्वात् । ततश्च काष्ठैः स्थाल्यां पचतीत्यादिवाक्यानामसम्भव एव स्यात् । अतो यद्व्यापाराऽव्यवधानेन क्रियासिद्धि र्विवक्ष्यते तत्करणमित्यकामेनाऽप्यभ्युपगन्तव्यम् । एवञ्च काष्ठव्यापाराऽव्यवधानेनैव पाकक्रियासिद्धिविवक्षायां स्थाल्यादेरधिकरणतयोक्तप्रकारवाक्यानां सम्भवो भवति । न च पाकाश्रयस्तण्डुलस्तदाश्रयश्च स्थालीति व्यवधानान्न स्थाल्यादेस्तत्त्वमिति न तथाविधवाक्याऽसम्भव इति वाच्यम् । एवं तर्हि स्थाल्या पच्यत इत्यादिवाक्याऽसम्भवः, तस्माद्विवक्षाऽधीनमेव कारकम् । एवञ्च स्थालीव्यापाराऽव्यवधानेन पाकक्रियासिद्धौ विवक्षितायां तथावाक्यसम्भव इति सर्वं समञ्जसम् । उक्तं च—

"वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यत" इति ॥ १ ॥

क्वचित्—'करणं साधकतम मि' ति पाठः । तत्र क्रियते येनेति करणपदव्युत्पत्तिः । साधकतममिति । अतिशयेन साधकमित्यर्थः । प्रकृष्टोपकारकमिति यावत् । क्रियासिद्धावित्यर्थबलाल्लभ्यते । क्व ह्यन्यत्र साधकतमं भवेत्कारकम् ? ।

यद्यप्यन्वयव्यतिरेकतः सर्वेषामेव कारकाणां क्रियासिद्धावुपकार-

१ अव्यवधानेन व्यापारवतः कारणस्येत्यर्थः ।

कत्वमेव, न तु कस्याऽपि प्रकृष्टोपकारकत्वम् । तथाप्यत्र क्रियासिद्धावव्यधानेनोपकारकत्वेन विवक्षितत्वमेव प्रकृष्टोपकारकत्वं बोध्यम् । यद्व्यापाराऽव्यवधानेन क्रियासिद्धिर्विवक्ष्यते तदिति यावत् ।

तच्च करणं द्विविधमित्याह—**बाह्यमिति** । [१] **बाह्यं** दात्रादि, **आभ्यन्तरं** मनआत्मादिः । क्रमेणोदाहरणमाह—**व्रीहीनित्यादि** । दात्रव्यापाराऽव्यवधानेन लवनक्रियासिद्धेर्मनोव्यापाराऽव्यवधानेन गमनक्रियासिद्धेश्चाऽभिप्रेतत्वाद्दात्रमनसोः करणतया तृतीया बोध्या ॥५०॥

यत्र चैकत्र क्रियासिद्धौ सम्भूयाऽनेकेषामव्यवधानेनोपकारकत्वं विवक्षितं तत्र तेषां सर्वेषामेव करणत्वम्, न तु तेष्वपि प्रकर्षोऽन्वेषणीय इत्याह—

[२] **प्रकर्षो न स्वकक्षायां कारकान्तरतोऽस्य सः ।**

---

( ४८ पृष्ठे ९ पङ्क्तौ–'**भवती**' ति । एवञ्च युगपदेव काष्ठस्थाल्यादिव्यापाराऽव्यवधानेन क्रियासिद्धिविवक्षायां 'काष्ठैः स्थाल्या पच्यत' इत्येवमाद्यपि वाक्यं भवतीति बोध्यम् । )

( ४८ पृष्ठे १४ पङ्क्तौ–'**तदनिर्देश्यमि**' ति । तत्करणमनिर्देश्यम्, एतत्करणमित्येवं निर्देशं नाऽर्हतीत्यर्थः । हि यतो वस्तु व्यवस्थितमेतत्करणमेव कर्मैव वेत्येवमादिप्रकारेण निर्णीतव्यवस्थाकं नास्तीत्यर्थः । )

१ बाह्यमिन्द्रियविषयमाभ्यंतरं तद्भिन्नमित्येवं द्विधेत्यर्थः ।

२ कारकान्तरतश्चाऽस्य प्रकर्षो न स्वकक्षया । दात्रैः शस्त्रैर्नखैर्वल्यो लूनास्तद्बहुधाऽपि तत्" इति क० पाठः । ग० पुस्तके तु 'दात्रैरि' त्यस्य स्थाने 'दात्रेणे' ति पाठः ।

**पथा रथेन दीपेन याति रात्रौ निजं गृहम्**[५] ॥५१॥

**स्वकक्षायामिति** । स्वस्थान इत्यर्थः । स्ववर्ग इति यावत् । स्ववर्गता च क्रियासिद्धावव्यधानेनोपकारकत्वविवक्षामात्रेण बोध्या । **स इति** । प्रकर्ष इत्यर्थः । कारकान्तराऽपेक्षया करणस्य प्रकर्ष आश्रीयते न त्वेककरणाऽपेक्षयाऽपरस्य करणस्यैवेत्यर्थः । तत्रोदाहरणमाह–**पथेति** । अत्र हि यानक्रियायां पथ्यादीनां सर्वेषामेव सन्निपत्योपकारकत्वमव्यवधानेन विवक्षितमिति सर्वेषामेव करणत्वम् ।

इदन्त्वत्राऽवधेयम्–स्वकक्षायामपि प्रकर्षाऽपेक्षणे मा भूत्सर्वेषा-

---

५ इतोऽग्रे–

"रुद्राय ददाति पशुमित्यर्थे कर्मणः करणसंज्ञा ।
स्यात्कर्म संप्रदानं पशुना रुद्रं यजत्येषः ॥ १ ॥
तथा समविषमयोःकर्मत्वे करणं भवेत् ।
समेन धावति मूढो विषमेण च धावति" ॥ २ ॥

इति श्लोकद्वयस्याऽधिकस्य क० ग० पुस्तके पाठः । तत्र 'पशुना रुद्रं यजती' त्यादिकं वाक्यं छन्दोविषय एव न भाषायामिति कैयटः । 'समेन धावती' त्यादौ च करणत्वविवक्षायां समेन पथैतीति सिद्धमेव । समं धावतीति क्रियाविशेषणत्वे च न कर्मत्वमपि तु द्वितीयैवेति तत्र तृतीयैव विधेया, नतु कर्मणः करणत्वम्, कर्मत्वस्यैव प्रागुक्तरीत्याऽभावात् । कर्मत्वविवक्षया 'सममेती' त्यादिप्रयोगाणामनिष्टत्वे त्वेतद्विधानं सङ्गच्छते । व्याख्याता तु 'पशुना रुद्रं यजते' इत्यादि वाक्यानां छन्दोविषयत्वात्कर्मत्वविवक्षायां 'समं धावती' त्यादिवाक्यानामनिष्टत्वे मानाऽभावाच्चोपेक्षितमिति बोध्यम् ।

मेव करणत्वम्, सामान्यतो हेतुभावादेव तृतीया स्यादिति न किमपि हीयते ।

यत्तु—तदा कारकान्तराणां सम्बन्धे षष्ठी स्यादिति, तन्न । अनभिधानादिति दिक् ।

करणे च तृतीया भवति । तथा चेमे तृतीयाविषये सङ्ग्रहश्लोकाः —

कर्तृकरणयो र्ज्ञेया तृतीयेत्थंभूत [१] लक्षणे चाऽपि ।
फलनिष्पादनयोग्ये हेतौ वर्तमानाद् गौणात् ॥ १ ॥

कृतो घटः कुलालेन तेनाऽऽदत्ते जलं जनः ।
जटाभिस्तापसं दृष्ट्वा भयेनाऽसौ निलीयते ॥ २ ॥

समेन गच्छन् मार्गेण [२] विषमेऽपि च भिक्षुकः ।
[३] द्रव्येणाऽर्थी गजेनेभ्यं दृष्ट्वोपेति गिरा पटुः ॥ ३ ॥

माषेणोनं न गृह्णाति दीनो जीर्णेन वाससा ।
भिक्षया वसति ग्रामे शीतेनाऽऽर्तः कृशोऽपि सन् ॥ ४ ॥

---

१ इत्थंभूतः कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्तस्य लक्षणं लक्ष्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति तत्, चिह्नमित्यर्थः । यथा तापसादे र्जटादिकम् ।

२ आधारविवक्षायामत्र सप्तम्यपीति सूचयितुमिदमुदाहरणम् ।

३ द्रव्येणाऽर्थीत्यादौ हेतौ कृतभवत्याद्यध्याहारेण कर्त्तरि करणे इत्थम्भूतलक्षणे च तृतीया यथायथमूहनीया । विशदबोधाय चैवान्युदाहरणान्युपात्तानीति बोध्यम् ।

फलस्य विवक्षितस्य क्रियायाश्चेद् द्योत्यते निष्पत्तिः ।
कालाऽध्ववृत्तिगौणात्तृतीया [१] व्याप्तौ गम्यायाम् ॥ ५ ॥

यदह्वा बध्यते कर्म तत्पदेन विलीयते ।
यदि यान्ति जिनं नन्तुं जना भक्त्या जिनालयम् ॥ ६ ॥

अर्थतः शब्दतो वा सहार्थे गम्ये तृतीया गौणात् ।
तिलैः सह वपति माषान् दशभिः पुत्रैर्वहति खरी भारम् ॥७॥

जनः सुखेनैति शिवं निषेवते यो जिनोक्तिमिह भक्त्या ।
विषयविषमूढबुद्धि दुःखेन जीवति भवे नियतम् ॥ ८ ॥

[२] प्रकारवतः प्रकारैर्यदि प्रकारवदर्थयुजः ख्यातिः ।
तदा प्रकारवदर्थात्स्यात्तृतीया नाम्नो गौणात् ॥ ९ ॥

अक्ष्णा काणोऽत्र खलः प्रायेणेति लोकश्रुतिः ख्याता ।
प्रकृत्या दर्शनीयो गिरा मृदुः साधुचरितश्च ॥ १० ॥

निषेधार्थैः कृताद्यैर्युक्ताद्विधेया तृतीया गौणात् ।
कृतमत्र ते वचोभिः किं गतेनाऽलमतिप्रसङ्गेन ॥ ११ ॥

नक्षत्राऽर्थात्काले वृत्तादाधारे गौणान्नाम्नः ।
प्रसितोत्सुकाऽवबद्धै युक्तात्तृतीया विकल्पेन ॥ १२ ॥

पललौदनं मघाभि र्भोक्तव्यं पायसं च पुष्येण ।
केशैः स्त्रिया प्रसितया कामिजनोऽस्त्युत्सुको भवति ॥ १३ ॥

---

१ व्याप्ति द्रव्यगुणादिभिर्निरन्तरसम्बन्धः ।

२ प्रकार इतरेभ्यो भेदकः स्वगतो विशेषः, यथाऽक्ष्णः काणत्वादिः । ख्यातिरभिधानम् ।

वीप्सायां व्याप्येभ्यः स्याद् द्विद्रोणादिभ्यो गौणेभ्यः ।
विभक्ति र्वा तृतीया द्विद्रोणेन धान्यं दत्ते ॥ १४ ॥

सम्पूर्वाज्जानातेरस्मृत्यर्थस्य व्याप्याद् गौणात् ।
वा विधेया तृतीया मात्रा सञ्जानीते शिशुः ॥ १५ ॥

सप्तमी वा द्वितीया ज्ञातव्येषु पक्षे यथायोगम् ।
पुष्ये पायसमद्यात्सञ्जानीते च मातरं बालः ॥ १६ ॥

सम्प्रपूर्वस्य दामः सम्प्रदानेऽधर्म्ये वृत्तात् ।
तृतीयाऽऽत्मनेपदं च तत्सन्नियोगे विधेयं दामः ॥ १७ ॥

द्रव्यं दास्या कामी सम्प्रयच्छते धिगिन्द्रियवशत्वम् ।
यदपहरते विवेकं विधिनिषेधयो र्बलाज्जन्तोः ॥ १८ ॥

विशेषविधिस्तदेवं तृतीयाया दर्शितोऽवगन्तव्यः ।
अनुशिष्टश्च विशेषः परिशिष्टे वक्ष्यते शिष्टः ॥ १९ ॥

सम्प्रदानं निरूपयन्नाह—

**सम्प्रदानं यस्मै दित्सा पूजाऽनुग्रहकाम्यया ।**
**अनुमन्तृप्रेरकमनिराकर्तृ त्रिधेति तत् ॥ ५२ ॥**

**यस्मै दित्सेति ।** यमुद्दिश्य पूजादिकामनया दानक्रियाप्रवृत्तिस्तदित्यर्थः । एतच्च सम्प्रददात्यस्मा इत्यन्वर्थत्वं संज्ञाया अनुरुध्य । एवञ्चैतन्मते ददातिक्रियाविषय एव सम्प्रदानसंज्ञा । 'पत्ये शेते' इत्यादौ चैवं तादर्थ्यादौ यथाकथञ्चिच्चतुर्थी निर्वाह्या । अवान्तरव्यापारवत एव कारकत्वात्सम्प्रदाने चाऽनुमतिप्रेरणाऽनिराकरणरूप-

व्यापारत्रयस्य यथायथं सम्भवात्तन्मूलकं त्रैविध्यमाह–**अनुमन्त्रिति** । यदुक्तम्—

"अनिराकरणात्कर्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम् ।
प्रेरणाऽनुमतिभ्यां च लभते सम्प्रदानताभि" ति ॥ १ ॥
अनुमन्त्रनिराकर्तृ प्रेरकं त्यागकारणम् ।
व्याप्येनाऽऽप्तं ददातेस्तु लभते सम्प्रदानताभि" ति च ॥२॥५२॥

अनुमन्तृसम्प्रदानमाह—

**ददामीति वचः श्रुत्वैवं [1] कुर्वित्यनुमन्यते ।**
**अनुमन्तृ तदेव स्याद् गुरवे गां ददातिवत् ॥ ६३ ॥**

**अनुमन्त्रिति** । सम्प्रदानमित्यनुषज्यते । अत एव नपुंसकनिर्देशः । एवमग्रेऽपि । **गुरवे** इति । अत्र हि गुरुर्न प्रेरको न वा निषेधकः, किन्तु तुभ्यं गां ददामीति पूजादिकाम्यया शिष्यं प्रार्थयमान 'मेवं कुरु, देहि वे' त्येवमादिप्रकारेणाऽनुमन्यत इति गुरुरनुमन्तृ सम्प्रदानम् ॥ ५३ ॥

प्रेरकमाह—

**यद्देहीति भणित्वा च दातारं प्रेरयेन्मुहुः [2] ।**
**तत्प्रेरकमिति प्रोक्तं भिक्षां देहि द्विजायवत् ॥ ५४ ॥**

**मुहुरिति** । अतन्त्रमिदम् । सकृदपि हि प्रेरणे प्रेरकमेव भवति, प्रेरको हि वारं वारं प्रेरयतीत्युत्सर्ग एव न तु नियमः ।

---

१ 'श्रुत्वेत्येवं कुर्वनुमन्यते । इत्थं तदनुमन्तृ स्यादि' ति क० ग० पाठः
२ 'यत्यहो' इति क० ग० पाठः ।

द्विजायवदिति । द्विजायेति यथेत्यर्थः । अत्र हि भिक्षां देहीति प्रेरयन् द्विजः प्रेरकं सम्प्रदानम् ॥ ५४ ॥

अनिराकर्त्राह—

[1] अनुमन्येत यो नैव मूकवत्प्रेरयेन्न वा ।
भवेत्तदनिराकर्तृ वलिं दत्ते सुरायवत् ॥ ५५ ॥

अनुमन्येतेत्यादि । न निषेधेदित्यपि बोध्यम् । अनिराकर्तृ-शब्दस्वरसात् । मूकवदिति । मूको हि वागभावादनुमननप्रेरणयोरशक्तः, तद्वदित्यर्थः । इङ्गितादिना तु तत्कर्तुं शक्नोत्यपि । किंतु प्रेरणादिव्यापारहीनः 'किं मूकवत्तिष्ठसी' त्यादिदर्शनान्मूकत्वेन व्यपदिश्यत इतीयमुपमा बोध्या । वलिमिति । देवो हि नाऽनुमन्यते, न निषेधति, न वा प्रेरयतीति तदनिराकर्तृ सम्प्रदानम् ॥ ५५ ॥

यस्मै दानमित्यनुक्त्या दित्सोक्तेः पूजादिकामनोक्तेश्च फलमाह—

राज्ञे दण्डं घ्नतःपृष्ठं दत्ते [2] दित्सा न गम्यते ।
शतं भट्टस्य दत्तेऽत्र [3] नाऽर्चाऽनुग्रहकामना ॥ ५६ ॥

---

[1] 'यन्नाऽनुमन्यते नाऽपि प्रेरयेत्किन्तु मूकवत् । भवेत्तदनिराकर्तृ दत्ते देवाय हेमवत्' इति क० ग० पाठः ।

[2] 'दित्साऽत्र नास्त्यहो' इति क० पाठः । 'दित्सा च नास्त्यहो' इति ग० पाठः ।

[3] 'नाऽर्चाऽनुग्रहकाम्यया' इति क० पाठः । 'नाऽर्चाऽनुग्रहकाम्यया' इति ग० पाठः ।

**राज्ञ** इति । राज्ञो दण्डं दत्ते, घ्नतः पृष्ठं दत्ते इति वाक्यम् । अत्र राजानं घ्नन्तं चोद्दिश्य दानमिति सम्प्रदानत्वाऽऽशङ्का । दित्साग्रहणाच्च स्वतो दित्सा गृह्यते । अपराधादिनिमित्तं दण्डितो हि भयादिना राज्ञो दण्डं दत्ते, न तु तत्र स्वतो दित्सेति दित्सां विना दण्डदानाऽसम्भवेऽपि न क्षतिः । तथा मस्तकादिषु घातस्य दुःसहत्वं घातस्य चाऽनिबार्यत्वमन्याज्ञापेक्षया पृष्ठस्य घातक्षमत्वञ्च पश्यन् पृष्ठं घाताऽभिमुखं कुर्वन् घ्नतः पृष्ठं दत्त इत्युच्यते । तत्राऽपि स्वतो दित्साऽभावः, नहि कोऽपि स्वतो दण्डं घातार्थं पृष्ठं च दित्सति । अस्त्वेवम्, किन्तु ‘ शतं भट्टस्य दत्ते ’ इत्यत्र स्वतो दित्सासत्त्वाद् भट्टस्य सम्प्रदानता प्राप्नोतीति चेन्न । तदाह—**नार्चेत्यादि** । ऋणादिरूपेण दाने ह्यर्चाद्यभावान्न सम्प्रदानतेति । एवञ्चाऽर्चादिकाम्यया स्वतो दित्सायामेव सम्प्रदानता । अत एव लक्षणे तथोक्तमित्याशयः ॥ ५६ ॥

ननु रजकस्यांऽशुकं दत्ते, भाटकेन गृहं दत्ते विप्रस्येत्यादौ च दित्साया विद्यमानतया सम्प्रदानता प्राप्नोतीत्याशङ्क्य समाधत्ते—

**सम्प्रदानं तदेव स्यात्त्यागभावयुतं च यत् ।**
**दीयमानेन संयोगात्स्वामित्वं लभते च यत् ॥ ५७ ॥**
**रजकस्यांऽशुकं दत्ते [१] त्यागाऽभावोऽत्र दृश्यते ।**
**भाटकेन गृहं दत्ते विप्रस्य स्वामिताऽत्र न ॥ ५८ ॥**

**त्यागेति** । त्यागभावनया दाने ह्युद्देश्यस्य सम्प्रदानता । किञ्च

१ ‘ त्यागभाव ’ इति क० ग० पाठः ।

दीयमानेन गृहगवादिना संयोगात्सम्बन्धाल्लब्धुः स्वामित्वलाभस्तदा सम्प्रदानतेत्यर्थः। त्यागः स्वस्वामित्वविसर्जनम्। एवं च रजकस्यांऽशुकं दत्ते इत्यादौ न वस्त्रे स्वस्वामित्वविसर्जनं दातुरिति न रजकस्य सम्प्रदानता। भाटकेन गृहं दत्ते विप्रस्येत्यादौ च भाटकग्रहणेन गृहे स्वस्वामित्वविसर्जनं गम्यते, न च तावता तत्र विप्रस्य स्वामित्वं जायते, भाटकदानेन गृहोपभोग एव तदधिकारात्, तदेवमेतत्परिक्रयणमात्रम्। किञ्च भाटकग्रहणेन स्वामित्वविसर्जनस्य भाटकदानेन स्वामित्वस्य च स्वीकारेऽपि न तावता सम्प्रदानता, स्वामित्वस्य निवृत्तेरुत्पत्तेश्च निरुपाधिकाया एव सम्प्रदानप्रयोजकत्वस्येष्टत्वात्, ईदृशस्थले च तयोरनुपाधिकयोरभावात्। अत एव भाटकाऽदाने गृहं गृहपतेः, विप्रस्य तदुपभोगाऽभावश्च। एवञ्च परस्वामित्वोत्पत्तिपर्यन्ता स्वस्वामित्वनिवृत्तिर्दानमिह गृह्यत इति भावः।

सूक्ष्मेक्षणविचक्षणास्तु नैतन्मन्यन्ते, अन्यत्राऽपि सम्प्रदानताया दर्शनात्। तथा च महाभाष्ये– 'न पापाय मतिं दद्यात्, खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाती' ति। नहि मतौ स्वस्वामित्वनिवृत्तिरिष्टा, न वा चपेटायां शिष्यस्य स्वामित्वम्। तस्मात् क्रियाद्वारा व्याप्यद्वारा वा श्रद्धादिजनितः सम्बन्धो येन कर्त्तुरिष्टस्तत् सम्प्रदानमित्येव सम्प्रदानलक्षणम्। रजकस्यांऽशुकं दत्त इत्यादौ च न रजकेन वस्त्रादिरूपव्याप्यद्वारा तादृशः सम्बन्ध इष्ट इति नाऽतिप्रसङ्गः। शिष्याय चपेटां ददातीत्यादौ च तथासम्बन्ध इष्ट इति नाऽव्याप्तिरपि। एवञ्च पत्ये शेते इत्यादावपि कारकविभक्तिरेव नतूपपदवि-

भक्तिः, प्रयनादिक्रियया श्रद्धादिजनितसम्बन्धस्य पत्यादिनेष्टत्वादित्यव-धेयम् ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

अथ विशेषः सङ्गृह्यते—

स्पृहे र्व्याप्यं विकल्पेन सम्प्रदानं मतं यथा ।
गुणान्तरेभ्यः स्पृहितः पुष्पेभ्यो भ्रमरो यथा ॥ १ ॥
[1] कोपमूलक्रोधद्रोहाऽसूयेर्ष्यार्थैश्च धातुभिः ।
योगे तत्सम्प्रदानं स्याद् भवेत्कोपो यकं प्रति ॥ २ ॥
क्रुध्यति चाऽपचिकीर्षत्यसूयतीर्ष्यति सते जनो दुष्टः ।
[2] भार्यामीर्ष्यति मैत्रो माऽनुपश्यत्वेनामन्यः ॥ ३ ॥
उपसर्गात्क्रुधिद्रुह्यो र्योगे कोपोऽस्ति यं प्रति ।
सम्प्रदानं मतं तन्न मैत्रं चैत्रोऽभिद्रुह्यति ॥ ४ ॥
सम्प्रदानेऽथ तादर्थ्ये चतुर्थी गौणतो मता ।
फल्ये शेतेऽहमन्नायोऽलमिदं यथा ॥ ५ ॥
प्रीयमाणे विकारे यदुत्तमर्णे च वर्त्तते ।
गौणात्ततश्चतुर्थी स्याद् रुचिकृप्यर्थधारिभिः ॥ ६ ॥

---

१ यद्यपि कोपः क्रोध एवेति कोपमूलक्रोध इत्यसङ्गतम्, तथापि नाऽकुपितः क्रुध्यतीति व्यवहारात्कोपशब्देन प्रथमाऽनुद्भूता कोपावस्था क्रोध-शब्देन च द्वितीया अकुस्थात्वनुमेयोद्भूता कोपावस्थेह गृह्यते । एवञ्च प्रथमा द्वितीयस्या मूलमिति स्पष्टमेव ।

२ भार्यायां हि न कोपमूलेर्ष्या किन्तु परकर्तृकदर्शननिमित्तेति न चतु-र्थीति बोध्यम् ।

मैत्राय रोचते धर्मः श्लेष्मणे जायते दधि ।
धारयत्येकोनशतं चैत्रो मैत्राय मासिकम् ॥ ७ ॥
प्रत्याङ्पूर्वश्रुवा योगे गौणान्नाम्नोऽभिलाषुके ।
याचमानेऽयाचमाने चतुर्थी वर्त्तमानतः ॥ ८ ॥
आख्यातरि वर्त्तमानात्प्रत्यनुभ्यां परेण च ।
योगे गृणातिना गौणाच्चतुर्थी नामतो मता ॥ ९ ॥
प्रतिशृणोति विप्राय गां भूमिं कनकं च सः ।
आचार्यायोपदिशतेऽनुगृणाति च तत्परः ॥ १० ॥
यस्याऽभिप्रायदैवादेः सन्देहविषयस्य चेत् ।
निरूपणे स्तो राधीक्षी चतुर्थी गौणतस्ततः ॥ ११ ॥
सन्देहविषये दैवे एव केचित्परे पुनः ।
राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपीच्छन्ति १ विषयादपि ॥ १२ ॥
यथेक्षते परस्त्रीभ्यो गर्गः कृष्णाय राध्यति ।
स साधयति मैत्राय वणिग् लाभाय पश्यति ॥ १३ ॥
आकस्मिकनिमित्तेन ज्ञाप्यमानार्थवृत्तिमत् ।
गौणान्नाम्नश्चतुर्थी स्याद्धाताय कपिला तडित् ॥ १४ ॥
तिष्ठति ह्नुतिशपतिश्लाघिधातुभिरन्वितात् ।
चतुर्थी गौणतो नाम्नः प्रयोज्ये वर्त्तमानतः ॥ १५ ॥
श्लाघते स्वं स मैत्राय सहस्रं वणिजे ह्नुते ।

---

१ यद्विषयकं राधनादि तस्मादित्यर्थः ।

तिष्ठते पौरकन्याभ्यो मित्राय शपते यथा ॥ १६ ॥
भाववाचिघञाद्यन्तात्तुमोऽर्थे गौणतो मता ।
स्वार्थे चतुर्थी पाकाय याति सूदो महानसम् ॥ १७ ॥
तुमोऽर्थे गम्यमाने स्यात्तद्व्याप्याद् गौणतः पुनः ।
चतुर्थी सा गताऽरण्यं खिन्ना निर्नामिकै १ धसे ॥ १८ ॥
२ पादविहारात्मगतेरनाक्रान्ताऽऽप्यवृत्तिकात् ।
चतुर्थी गौणतो वा स्याद् ग्रामं ग्रामाय वैति सः॥ १९ ॥
मन्यस्य गौणतो व्याप्यान्नावादिभ्यो विवर्जितात् ।
चतुर्थी वा ततः कुत्साऽऽधिक्यं चेत्प्रतिपाद्यते ॥ २० ॥
न त्वा तृणाय मन्येऽहं न त्वा मन्ये तृणं यथा ।
कुत्सामात्रे केचिदाहुः षष्ठी ज्ञेया ३ कृदन्वये ॥ २१ ॥
युक्ताद् हितसुखाभ्यां च चतुर्थी गौणतो भवेत् ।
सुखं लोकाय सन्तोषो विजनं मुनये हितम् ॥ २२ ॥
आयुष्यक्षेमभद्रार्थार्थकैर्युक्तात्तथाऽऽशिषि ।
गौणाद् हितसुखार्थैर्वा चतुर्थी नामतो भवेत् ॥ २३ ॥
आयुष्यमस्तु श्राद्धेभ्यः क्षेममर्थं हितं सुखम् ।
भद्रं च जैनधर्माय धर्ममुख्याय भूतले ॥ २४ ॥

---

१ एधांस्याहर्तुमित्यर्थः ।

२ पादविहाररूपा या गति स्तस्या य अनाक्रान्तोऽप्राप्त आप्यो व्याप्यस्तद्वाचकादित्यर्थः । ३ कृद्योगे इत्यर्थः ।

[1] कियत्कालाऽऽत्मसात्कारे करणं वेतनादि यत् ।
तदर्थाद् गौणतो नाम्नश्चतुर्थी वा विधीयते ॥ २५ ॥
तच्छताय परिक्रीतं तुभ्यं मासं गृहं शुभे ! ।
सम्भोगाय परिक्रीते ! कर्त्ताऽस्मि तव यत् प्रियम् ॥ २६ ॥
नमः स्वस्तिस्वधास्वाहावषड्भि गौणनामतः ।
शक्तार्थैश्चाऽन्वितान्नित्यं चतुर्थीह विधीयते ॥ २७ ॥
अपारदुःखाऽकूपारपाराय प्रभविष्णवे ।
नमो भाव्याऽब्जमित्राय सङ्घाय च ज़िनाय च ॥ २८ ॥
सङ्गृह्योक्तो विशेषोऽयं चतुर्थी विषये पुनः ।
परिशिष्ट प्रवक्ष्यामि शिष्टं शास्त्रानुसारतः ॥ २९ ॥

अथाऽपादानं निरूपयति—

**यस्मादपायस्तदपादानं तदचलं चलम् ।**
**[2] वृक्षात्पतन्ति पर्णानि धावतोऽश्वात्पपात च ॥ ५९ ॥**

**यस्मादिति** । अपायो विश्लेषः, तथा च यदवधिकोऽपाय-स्तदपादानमित्यर्थः । अवधिश्च विश्लेषाश्रयः, तच्च विश्लेषाश्रयात्मक-मपादान**मचलं** स्थिरं **चल**मस्थिरं चेति द्विविधं भवति । तत्र क्रमेणो-दाहरणमाह—**वृक्षादि**ति । अत्र हि वृक्षोऽवधिरचलः, अश्वरूपस्तु धावत इति विशेषणाच्चलः प्रतीयते ।

---

१ नियतकालं स्वाधीनीकरण इत्यर्थः ।

२ 'पतति पर्णं चे' ति क० ग० पाठः ।

ननु विश्लेषो विभागः। स च संयोग इव द्विष्ठः। तथा च वृक्षादिव पर्णादप्यपादानत्वमापततीति चेन्न। विश्लेषजनकक्रियाऽनाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वरूपस्याऽवधित्वस्येह विवक्षितत्वात्। अतो **यस्मादपाय** इत्युक्तम्। यद्यपि पर्णस्य क्रियाऽनाश्रयत्वविरहादेवाऽपादानत्ववारणम्, तथाऽपि कुड्यात्पततोऽश्वात्पततीत्यादावश्वादेः क्रियाश्रयतयाऽव्याप्तिं मा प्रसाङ्क्षीदिति विश्लेषजनकेति।

न चैवमप्यत्राऽव्याप्तिरेव, अश्वस्य पततो विश्लेषहेतुक्रियाश्रयत्वादिति वाच्यम्। तद्विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे तात्पर्यात्। अत एव परस्परस्मान्मेषावपसरत इत्यादावपि विभागैक्येऽपि तत्तन्मेषगतक्रियाभेदादेकक्रियामादायाऽपरस्याऽपादानत्वमित्यवधेयम्। ततश्च तद्विश्लेषाश्रयत्वे सति तद्विश्लेषजनकतत्क्रियाऽनाश्रयत्वमपादानत्वमिति निष्कर्षः। तदुक्तं हरिणा—

"अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवाऽतदावेशात्तदपादानमुच्यते ॥ १ ॥
पततो ध्रुव एवाऽश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ।
तस्याऽप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमुच्यते ॥ २ ॥
उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मजे।
विभागे, प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते ॥ ३ ॥
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक्पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक्पृथक्" ॥ ४ ॥

इति। एतच्चाऽपादानं त्रिविधम्। यथाह हरिः—

"निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपात्तविषयं तथा ।
अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधाऽपादानमुच्यते" ॥ १ ॥

इति । तत्र, **निर्दिष्टविषय**मिति । निर्दिष्टो धातुना साक्षाद्बोधितो विषयो निरूपकोऽर्थो यस्य तत् । विभागजनकक्रियार्थको धातुर्निर्दिश्यते यत्र तदित्यर्थः । यथा वृक्षात्पर्णानि पतन्तीत्यादौ । उपात्तः समभिव्याहृतधातुना लक्षितो विषयो विभागजनकक्रियारूपो यत्र **तदुपात्तविषयम्** । यथा कुशूलात्पचतीत्यादौ । अत्र कुशूलेनाऽन्वयाऽनुपपत्तेरादानविशेषितपाकं पचिर्लक्षयति । आदानं च विभागजनकव्यापार एव । अपेक्षिता प्रतीयमाना क्रिया तद्वाचकपदश्रुत्यभावाद्यत्र **तदपेक्षितक्रियम्** । अनुपात्तधात्वर्थक्रियासाकाङ्क्षमिति यावत् । यथा--कुतो भवान् ?, पाटलिपुत्रादित्यादौ । एवमादिषु वाक्येषु विभागजनकाऽऽगमनादिक्रियाऽध्याहारेणाऽन्वयः ॥ ५९ ॥

अथ पञ्चमीविषये विशेषः सङ्गृह्योच्यते—

अपादानात्पञ्चमी स्याद्गौणादाङा तथाऽन्वितात् ।
मर्यादायां चाऽभिविधौ [१] वर्त्तमानेन नामतः ॥ १ ॥
भव्यो बिभेति संसारात्तं ततस्त्रायते जिनः ।
[२] दुःखमाजन्मनोऽवश्यमा मुक्तेश्च भवस्थितिः ॥ २ ॥
पर्यपाभ्यामन्वितात्स्याद्वर्ज्येऽर्थे वर्त्तमानतः ।

१ वर्त्तमानेन आङा इत्यन्वयः ।

२ अत्राऽभिविधावाङ्, परत्र च मर्यादायामिति बोध्यम् ।

पञ्चमी गौणतो नाम्नो [१] गुरोः परि कुतो मतिः ? ॥ ३ ॥
यमपेक्ष्य प्रतिनिधिप्रतिदाने तदर्थकात् ।
गौणतः प्रतिना युक्तान्नामतः पञ्चमी भवेत् ॥ ४ ॥
आचार्यात्प्रत्युपाध्यायो युवराजो नृपात्प्रति ।
तिलेभ्यः प्रति मैत्रोऽयं माषानस्मै प्रयच्छति ॥ ५ ॥
विद्यायाश्चेदधिगमो नियमाद् गौणतस्तदा ।
आख्यातरि वर्त्तमानात्पञ्चमी नामतो भवेत् ॥ ६ ॥
रत्नत्रयोपसेवासु तत्पराः साधवोऽनिशम् ।
उपाध्यायाद् धीविशुद्धात्साङ्गोपाङ्गमधीयते ॥ ७ ॥
गम्यस्य यौ यबन्तस्य कर्माधारौ तदर्थकात् ।
पञ्चमी गौणतः [२] सौधादासनादवलोकते ॥ ८ ॥
प्रभृत्यर्थैस्तथाऽन्यार्थैर्दिक्शब्दै [३] श्चेतरेण च ।
बहिरारादृध्वनिभ्यां च पञ्चमी गौणतोऽन्वितात् ॥ ९ ॥
भवात्प्रभृति सेव्योऽन्यः को जिनाद्यो भवात्परः ।
न गच्छेदितरो भव्याद्बहिश्च भवचक्रतः ॥ १० ॥
फलसाधनयोग्यत्वाद्गुणं हेतुर्यदा भवेत् ।
तदर्थात्पञ्चमी गौणात्तदा, बद्धः शताद्यथा ॥ ११ ॥
अस्त्रीवृत्ते हेतुभूतगुणार्थाद्गौणतो भवेत् ।

---

१ गुरुं परिवर्ज्याऽन्यतो बोधो न सम्भवतीत्यर्थः ।

२ सौधमारुह्य आसने उपविश्येत्यर्थः । ३ इतरशब्देनेत्यर्थः ।

पञ्चमी वा यथा जाड्याद्बद्धो मुक्तः स पाटवात् ॥ १२ ॥
दूराऽन्तिकार्थैर्युक्ताद्वा पञ्चमी गौणतो मता ।
आराच्छब्देन नित्यं तु ग्रामाद्दूरं स्थितो मुनिः ॥ १३ ॥
स्तोककृच्छ्राऽल्पकतिपयशब्देभ्यश्च वा पञ्चमी करणे ।
असत्त्वे वृत्तिमद्भ्यो जिनभक्तो मुच्यते स्तोकात् ॥ १४ ॥
सङ्गृहीतो विशेषोऽयं पञ्चमीविषये पुनः ।
वक्ष्यते स यथाशास्त्रं परिशिष्टे क्रियानपि ॥ १५ ॥

ननु संयोगनाशको गुणो विभागः, संयोगश्च द्रव्ययोरेवेति 'संसाराद्बिभेति, संसारात्त्रायते' इत्यादौ तादृशविभागाऽप्रतीतेः कथमपादानत्वमिति चेत्, उच्यते—अत्र हि विभागः कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वकश्च गृह्यते । यत्र च कायसंसर्गपूर्वकस्य तस्य न सम्भवस्तत्र बुद्धिसंसर्गपूर्वकविभागमादायैवाऽपादानता । उक्तोदाहरणयोश्च वधबन्धादिप्रयोजकं संसारं बुद्ध्या प्राप्य ततो निवर्त्तत इति बिभेतीत्युच्यते । संसारमग्नोऽयं महाक्लेशभागिति जनं कोऽपि ततो निवर्त्तयतीति त्रायते इत्युच्यते । ततश्चोभयत्र बुद्धिसंसर्गपूर्वको विभागः स्पष्ट एव । यदुक्तम्—

"बुद्ध्या समीहितैकत्वान् पञ्चालान् कुरुभिर्यदा ।
बुद्ध्या विभजते वक्ता तदाऽपायः प्रतीयते" ॥ १ ॥

इति । अत एव च—

"गोलोम्नो जायते दूर्वा गोमयाद्वृश्चिकः स्मृतः ।
गोदोहाद् गोरसं प्राहु र्गोश्रृङ्गादुच्यते शरः" ॥ १ ॥

इत्यादयोऽपि प्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । ननु व्याकरणान्तरे ईदृशस्थलेषु पञ्चम्यर्थं यत्नान्तरं कृतम् । तत्र चेदृशस्थले नित्यैव पञ्चमी विहिता । तव मते च तादृशविभागाऽविवक्षणे विभक्त्यन्तरस्याऽप्यापत्तिरिति चेत्, भवत्येव । तथा च प्रयोगाः—'बलाहके विद्योतते, बलाहकं विद्योतते, अधर्ममधर्मेण वा जुगुप्सते, मौर्ख्येण प्रमाद्यति, चौरेण चौरेषु चौराणां वा बिभेति, भोजनेन पराजयते, शत्रून् पराजयते, यवेषु गां वारयति, शृङ्गे शरो जायते' इत्यादयः । अधिकमन्यत्राऽनुसन्धेयम् । विस्तरभयात्ततो विरम्यते इति ।

अथाऽधिकरणं निरूपयति—

**स्यादाधारोऽधिकरणं षट्प्रकारं च तद्विदुः ।**
**[1]वैषयिकौपश्लेषिके अभिव्यापकमेव च ॥ ६० ॥**
**नैमित्तिकं सामीप्यकमौपचारिकमन्तिमम् ।**

**आधार** इति । क्रियाश्रयस्येति शेषः । यदुक्तम्—

"**कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत्क्रियाम् ।**
**उपकुर्वत्क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्**", ॥ १ ॥

इति । अन्यथा क्रियाया एवाऽधारस्याऽधिकरणसंज्ञापत्तिः स्यात् । ननु-कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयत्वमादायैव कारकत्वात्क्रियाश्रयस्याऽप्यधिकरणसंज्ञेति क्रियाश्रयत्वमात्रतोऽपीष्टाऽधिकरणत्वं सिद्ध्यत्येवेति चेन्न ।

---

१ 'वैषयिकमौपश्लेषिकमि' ति ग० पाठः । 'मुपश्लेषिकमि' ति क० पाठः ।

साक्षात्क्रियाश्रयस्य लाभे परम्परया तदाश्रयस्याऽधिकरणत्वस्याऽन्याय्य-त्वात्। गौणमुख्ययो मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययपरिभाषणात् क्रियाश्रयस्य कर्त्तुः कर्मण एव चाऽधिकरणत्वाऽपत्तेः।

यदि तु कर्त्रादिसंज्ञाभिः स्वविषये तद्बाधेनाऽगत्या गौणस्यैव तत्त्वम्, आधारपदं च क्रियाश्रयाश्रय एव रूढम्। एवञ्चाऽऽधार-पदात्क्रियाश्रयमात्रस्योपस्थितिरपि न सम्भवति। न च योगात्तथोप-स्थितिः, रूढेर्बलीयस्त्वात्, तथोपस्थितावप्युक्त[१] युक्तेरदोषाच्च। अत एव पाणिनीयादा 'वाधारोऽधिकरणमि' त्येतावन्मात्रमेवोक्तमिति वि-भाव्यते, तदा क्रियाश्रयस्येत्यनुपादेयमेव।

यत्तु—'क्रियाधार' इत्येतावत्युच्यमाने साक्षात् क्रियाधार-भूतयोः कर्तृकर्मणोरेव संज्ञा स्यान्न तु तदाश्रयस्य कटादेः, मुख्याभावे हि गौणाश्रयणं स्यात्। न च कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यां बाधितत्वा-न्मुख्याऽसम्भवाद्गौणस्वीकार इति वाच्यम्। कर्मस्थक्रियेषु कर्तुः क्रियाश्रयत्वाभावादस्याऽप्रवृत्तौ कर्तृसंज्ञायाश्चरितार्थत्वात्, कर्तृस्थ-क्रियेषु च कर्मणः क्रियाश्रयत्वाऽभावात्कर्मसंज्ञायाः, तस्मादाश्रयस्येति कर्त्तव्यमि'ति। तत्रैतन्न विद्मो यत्कर्मस्थक्रियादिषु यदि नाम कर्त्रादि-र्न क्रियाश्रयस्तदा कथं नाम तस्य कर्तृत्वाद्यपि?, क्रियाश्रयस्यैव कार-कत्वात्। क्रियाग्रहणं चाऽपि निष्प्रयोजनम्। आधारोऽधिकरणमि-

[१] कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयत्वमादायेत्यादियुक्तेरित्यर्थः।

त्येतावतैवोक्तरी[१] त्येष्टसिद्धेः । न च क्रियापदाऽनुक्तौ देवदत्ताद्याधारत्वमात्रेणाऽधिकरणसंज्ञाप्रवृत्तौ तस्य कारकत्वाऽनापत्तिरिति वाच्यम् । कारकाऽधिकारात्क्रियाऽनाश्रयस्याऽधिकरणसंज्ञाऽसम्भवात्, कर्तृकर्म--द्वारा क्रियाश्रयत्वस्यैवाधारपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वाच्चेति ।

अधिकरणभेदान्निरूपयितुमाह—**षट्प्रकारमिति**। के ते प्रकारा इत्यपेक्षायामाह—**वैषयिकौपश्लेषिके** इत्यादिना । वैषयिकम्, औपश्लेषिकम्, अभिव्यापकम्, नैमित्तिकम्, सामीप्यकम्, औपचारिकमित्यर्थः । **अन्तिममिति** । षष्ठमित्यर्थः ॥ ६० ॥

वैषयिकस्य स्वरूपनिदर्शनपूर्वकमुदाहरणमाह—

**विषयोऽनन्यत्रभावो दिवि देवाः स्थिता यथा** ॥६१॥

**अनन्यत्र भाव** इति । अन्यत्र प्रवृत्त्यभाव इत्यर्थः । यस्य हि यत्र प्रवृत्तिः, स तस्य विषयः । यथा चक्षुरादीनां रूपादयः । दिवि च देवानां प्रवृत्तिर्नाऽन्यत्रेति तेषां द्यौर्विषय इति विषयाय शक्तमिति वैषयिकमधिकरणं द्यौरिति भावः ॥ ६१ ॥

औपश्लेषिकमधिकरणमाह—

**एकदेशेन संयोग उपश्लेषः समीरितः ।**
**यथा चैत्रः कट आस्ते गृहे तिष्ठति वा गृही** ॥ ६२ ॥

**संयोग** इति । सम्बन्ध इत्यर्थः । न तु संयोग एव सम्बन्धः,

---

१ आधारपदस्य क्रियाश्रयाश्रये रूढत्वात्, कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयत्वमादायेति तात्पर्यम् ।

वृक्षे शाखेत्यादौ संयोगाऽभावात् । उपश्लेष एवौपश्लेषिकम् । कटादेश्च देवदत्तादिनैकदेशमात्रसंयोग इति कटादीनामौपश्लेषिकाऽधिकरणत्वम् ॥ ६२ ॥

अभिव्यापकमधिकरणमाह—

**यत्र सर्वाङ्गसंयोगस्तदभिव्यापकं मतम् ।**
**यथा तिलेषु तैलं स्याद्घृतं स्याद्दध्नि वा यथा ॥६३॥**

**सर्वाङ्गसंयोग** इति । संयोगसमवायादिना सर्वावयवव्याप्तिरित्यर्थः । सा चाऽऽधेयावयवैराधारावयवानामाधारावयवैराधेयावयवानां वेत्युभयथाऽपि सम्भवति । तिलेषु तैलमित्यादौ तिलाद्यवयवास्तैलाद्यवयवांस्तैलाद्यवयवा वा तिलाद्यवयवान् व्याप्याऽवतिष्ठन्ते । गवि गोत्वमित्यादौ तु गोत्वादिना व्यक्ते र्न तु व्यक्त्या गोत्वादेरभिव्याप्तिरित्यवधेयम् ॥ ६३ ॥

नैमित्तिकमधिकरणमाह—

**यस्य यत्स्यान्निमित्तं तन्नैमित्तिकमुदाहृतम् ।**
**युद्धे सन्नह्यते [1] योधश्छायायामाश्वसित्यसौ ॥ ६४ ॥**

**नैमित्तिक**मिति । निमित्तमेव नैमित्तिकम् । विनयादित्वात्स्वार्थे इकण् । अत्र सन्नहनादीनामन्यत्राऽपि सम्भवादनन्यभावाऽभावान्न

---

१ 'हन्ति दन्तयोः कुञ्जरं यथा' इति क० ग० पाठः ।

परमत्र व्याप्यसम्बन्धाद्धेतौ सप्तमी न त्वधिकरणे इत्युपपदविभक्ति र्न कारकविभक्तिरित्यधिकरणोदाहरणप्रसङ्गे नाऽस्योल्लेख उचित इत्युपेक्षितम् ।

वैषयिकाऽधिकरणत्वं युद्धादीनाम् । किन्तु युद्धादिनिमित्तानि सन्नहनादीनीति तानि नैमित्तिकान्यधिकरणानीत्याशयः ।

अत्रेदं विचारणीयम्–मोक्षे इच्छाऽस्तीत्यादौ न मोक्षादय इच्छादीनां निमित्तम्, उपश्लेषाद्यभावाच्च न प्रकारान्तरेणाऽधिकरणत्वसम्भवस्तेषाम् । नाऽपीच्छादीनामनन्यभावः, घटादावपि तेषां सत्त्वात् । न च तत्तदिच्छादीनामनन्यभाव एव । अत एव मोक्षविषयिणीच्छेत्येव ततः प्रतीयते सर्वै न तु मोक्षनिमित्तमिति वाच्यम् । एवन्तर्हि तत्तत्सन्नहनादीनामप्यनन्यभाव एवेति युद्धादीनि वैषयिकाधिकरणान्येव न नैमित्तिकाधिकरणानीति नैमित्तिकमधिकरणं नास्तीति ॥ ६४ ॥

सामीप्यकमधिकरणमाह—

**[२] सामीप्यकं क्रियाहेतुर्यस्यात्सन्निधिमात्रतः ।**
**घोषस्तिष्ठति गङ्गायां गुरौ वसति भक्तिमान् ॥६५॥**

**सामीप्यक**मिति । समीपशब्दाद् भेषजादित्वात्स्वार्थे ष्यण् । ततो यावादित्वात्के सामीप्यकम् । **घोष** इति । गङ्गादयो हि सन्निधानमात्रेण घोषादिस्थितिहेतव इति तेषां सामीप्यकाधिकरणता । न च गङ्गादयो घोषानाश्रयाः, यदधीना हि यस्य स्थितिः स तदाश्रयः । यथा पुरुषो राजाश्रयः । अस्ति च घोषादीनां गङ्गाद्यधीनं स्थित्यादि ।

---

२ 'समीपमेव सामीप्यं गङ्गायां घोष उन्मदः । आकाशे शकुनिर्याति ' इति क० ग० पाठः । किन्त्वत्राऽऽकाशं न सामीप्यकमधिकरणम्, किन्तु शकुनेरनन्यत्रभावाद्वैषयिकमाकाशैकदेशसंयोगादौपश्लेषिकमेव वेत्युपेक्षितम् ।

वस्तुतस्त्वीदृशस्थले गङ्गादिशब्दैस्तत्समीपदेशादिरेवोच्यते लक्षणया। अन्यथा घोषादेः स्थित्यादिक्रियाश्रयस्य गङ्गासमीपदेश एव सत्त्वाद् गङ्गादीनामधिकरणत्वमेव न स्यात्, तेषां तादृशक्रियायां सव्यापारत्वाऽभावात्। न च सामीप्यात्तदुपचर्यत इत्यपि युक्तम्। तथा सति तत्रौपचारिकाधिकरणत्वमेव स्यान्न तु सामीप्यकाधिकरणत्वम्। एवञ्च गङ्गादिपदेभ्य ईदृशस्थलेष्वौपश्लेषिकाधिकरण एव सप्तमीति न सामीप्यकमधिकरणमस्तीति ॥ ६५ ॥

औपचारिकाधिकरणमाह—

**भवेद्यदुपचारात्तदौपचारिकमुच्यते ।**
**अङ्गुल्यग्रे करिशतमास्ते यद्वत्प्रकीर्त्यते ॥ ६६ ॥**

**उपचारादिति**। उपचारं हेतुमपेक्ष्येत्यर्थः। अधिकरणमिति प्रकरणाल्लभ्यते। उपचारश्चाऽन्यत्राऽवस्थितस्याऽन्यत्राऽऽरोपः। **औपचारिकमिति**। उपचारे भवम्, अध्यात्मादित्वादिकण्। उदाहरणमाह—**अङ्गुल्यग्र** इति। अत्राऽङ्गुल्यग्रादौ करिशताऽवस्थानाद्यसम्भवात्केनाऽपि प्रयोजनादिना करिशतादावङ्गुल्यग्रादिस्थत्वमुपचर्यते इति भवत्यङ्गुल्यग्रादिरौपचारिकमधिकरणमिति। अत्राऽप्यङ्गुल्यग्रादिशब्देन करिशताद्यधिष्ठितदेशादीनामेव लक्षणया बोधात्तदौपश्लेषिकमेवाऽधिकरणम्। तथा—'द्वेष्यः प्रतिवसत्यक्ष्णो हृदये वसति प्रिय' इत्यादावपि द्वेष्यस्तदपकारविधित्सया तत्कृतप्रतिविधित्सया तद्व्यापारनिरूपणेच्छादिना वा सदाऽक्षिविषय इव भवति, प्रियोऽपि च प्रियत्वात्सदा स्मृत्यादिविषय इति हृदयविषय इत्यक्षादीनि

वैषयिकाधिकरणानीति न पृथगौपचारिकमधिकरणम् । एवञ्च त्रिविध-मेवाऽधिकरणम् । यदुक्तम्—

"आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः कटाऽऽकाशतिलादिषु ।
औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापक एव चे" ति ॥ १ ॥

षट्प्रकारोक्तिस्तु शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः ॥ ६६ ॥

अथ सप्तमीविषये विशेषः सङ्गृह्योच्यते—

गौणान्नाम्नोऽधिकरणे विभक्तिः सप्तमी भवेत् ।
इच्छुर्मोक्षे गुरौ वासं कुर्याज्जन्मनि संयतः ॥ १ ॥
सप्तमी वाऽधिकरणे गौणतः कालवचिनः ।
वारार्थप्रत्ययान्तेन युक्ताद् भुङ्क्ते द्विरह्न्यसौ ॥ २ ॥
कुशलाऽऽयुक्तशब्दाभ्यामन्विताद् गौणनामतः ।
आधारे सप्तमी वा स्यादासेवा यदि गम्यते ॥ ३ ॥
कुशलो विद्याग्रहणे आयुक्तश्च व्रते मुनिः ।
१ आधारत्वाऽविवक्षा नाऽऽसेवावारार्थयोः परे ॥ ४ ॥
स्वामीश्वराऽधिपतिभि र्दायादध्वनिना तथा ।
साक्षिप्रतिभूप्रसूतै र्गौणाद्वा सप्तमी युतात् ॥ ५ ॥
वीरः स मुनिषु स्वामी साक्षी तत्राऽऽगमो मतः ।
वीरे सङ्घोऽस्ति दायादो मुक्तौ च प्रतिभूर्जिनः ॥ ६ ॥

१ विवक्षाभेदेनैव विकल्पेन सप्तमीसिद्धौ विशिष्य तद्विधानप्रयोजनमाह-आधारत्वेत्यादि । परे=परत्र, कालवाचिभिन्नस्थले कुशलाऽऽयुक्तशब्दयुक्तना-मभिन्नस्थले चेत्यर्थः ।

१ क्तेनन्तव्याप्यतो गौणान्नामतः सप्तमी भवेत् ।
अधीती द्वादशाङ्गेऽयं गृहीती संयमे मुनिः ॥ ७ ॥
क्रियारम्भो यदर्थः स्यात्तदर्थाद्व्याप्यसंयुतात् ।
सप्तमी गौणतो नाम्नो मौक्तिके शुक्तिकाचितिः ॥ ८ ॥
असाधुध्वनिना युक्ताद्गौणतः सप्तमी, न चेत् ।
प्रत्यादयः प्रयुज्यन्ते मैत्रोऽसाधुः स्वमातरि ॥ ९ ॥
साधुशब्देनाऽन्वितात्स्यात्सप्तमी गौणतो, न चेत् ।
प्रत्यादयः प्रयुज्यन्ते साधुर्मैत्रो महीपतौ ॥ १० ॥
साधुनिपुणशब्दाभ्यामन्वितात्सप्तमी भवेत् ।
गौणादर्चा भवेद्गम्या प्रत्यादि न प्रयुज्यते ॥ ११ ॥
निपुणो जनके मैत्रश्चैत्रश्च निजमातरि ।
श्रुते स निपुणः साधुः साधुश्चारित्रपालने ॥ १२ ॥
स्वस्वामिनोर्वर्त्तमानाद् गौणात्स्यादधिना युतात् ।
सप्तम्यधि जिने लोका लोकेष्वधि जिनो यथा ॥ १३ ॥
वृत्तिमतोऽधिक्यर्थे सप्तमी स्यादुपेन युताद्गौणात् ।
अस्त्युप खार्यां द्रोणस्तथोप रूप्यके पणानि दश ॥ १४ ॥
अन्यदीयक्रिया यस्य क्रियया परिलक्ष्यते ।
तद्वृत्तेः सप्तमी गौणाद् भावे गम्येऽपि जायते ॥ १५ ॥
जन्मोत्सवार्थमागच्छन् सुरा जाते जिनेश्वरे ।

१ क्तान्ताद् य इन् प्रत्ययस्तदन्तस्य यो व्याप्यस्तत इत्यर्थः ।

कलायमात्रेष्वाम्रेषु गतः पक्वेषु चागतः ॥ १६ ॥

भव्येषु मुच्यमानेषु यदभव्याः समासते ।

मोदमानेष्वभव्येषु भव्याः क्लिश्यन्ति तद्भवे ॥ १७ ॥

सङ्गृहीतो विशेषोऽयं सप्तमीविषये यथा ।

परिशिष्टे तथाऽन्योऽपि वक्ष्यते शास्त्रसम्मतः ॥ १८ ॥

अथोक्तयुक्त्या सम्बन्धस्याऽपि कारकत्वव्यवस्थापनात्तदर्थे जायमानां षष्ठीं निरूपयति—

**अस्याऽयमिति सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिर[1] मुख्यतः ।**

**स कारकविशेषाणां विवक्षाऽभावलक्षणः ॥ ६७ ॥**

**अस्याऽयमिति** । अस्याऽयमिति शब्दप्रवृत्तिर्यतः स इत्यर्थः । अस्याऽयमिति शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति यावत् । नहि सम्बन्धं विनाऽस्याऽयमिति प्रतिपादयितुं शक्यम्, अतिप्रसङ्गात् । **षष्ठ्युत्पत्तिरिति** । तत्रेत्यादिः । सम्बन्धरूपेऽर्थे इत्यर्थः । नन्वेवं सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वाद्राज्ञः पुरुष इत्यादौ पुरुषपदादपि षष्ठी प्राप्नोतीति चेन्न । तदाह—**अमुख्यत** इति । गौणादित्यर्थः । मुख्यत्वं हि क्रियापदसामानाधिकरण्यम् । तच्च पुरुषस्य न राजपदस्येति पुरुषपदात्प्रथमा राजपदाच्च षष्ठीति विवेकः ।

---

१ "स्तु मुख्यतः । यस्माद्भवन्ति सर्वाणि कारकाणि विवक्षया" इति क० ग० पाठः । स तूपेक्षितः, नहि यतः शेषे षष्ठी ततो विवक्षया सर्वाणि कारकाणि भवन्ति ; किञ्च 'विवक्षातः कारकाणी' ति परिभाषणापूर्वत्रैव विवक्षया सर्वाणि कारकाणी ति सर्वत्र षष्ठ्युत्पत्तिरेव स्यात् ।

ननु मा भूत्पुरुषपदात्षष्ठी, प्रथमा तु कथम्?, नामार्थमात्रे हि प्रथमा विधीयते, अत्र च सम्बन्धरूपस्यार्थस्याधिकस्य भानादिति चेन्न। सम्बन्धस्य वाक्यार्थत्वात्पुरुषपदान्नामार्थमात्रे प्रथमोत्पत्तेः। यदुक्तं महाभाष्ये—'आधिक्यस्य वाक्यार्थत्वादि' ति।

अथैवं राजपदादपि षष्ठी न स्यात्, सम्बन्धस्य वाक्यार्थत्वादिति चेन्न। १ परार्थत्वेन विवक्षितत्वाद्राज्ञ इति केवले पदे प्रयुक्तेऽपि सामान्यतः सम्बन्धार्थस्य प्रतीतेस्तत्र सम्बन्धस्य वाक्यार्थत्वाऽभावात्। पुरुषपदप्रयोगे च सम्बन्धविशेषप्रतिपत्तिरित्यन्यदेतत्। पुरुषपदस्य तु राजपदसमभिव्याहारमन्तरेण न सम्बन्धार्थप्रतीतिरिति तत्र तस्य वाक्यार्थत्वमेव। यदुक्तं हरिणा—

> द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद्गुणेषु व्यतिरिच्यते।
> तत्राऽभिधीयमानश्च प्रधानेऽप्युपयुज्यते" ॥ १ ॥

इति। यदा तु पुरुषस्यैव परार्थत्वेन विवक्षा तदा ततः षष्ठी भवत्येव 'पुरुषस्य राजे' ति। गुणप्रधानभावश्चैकस्याऽपेक्षाभेदेन सम्भवत्येव, एकस्यैव चैत्रादेरपेक्षाभेदेन पितापुत्रत्वादिवदिति स्याद्वादो विजयते।

ननु कर्मादेरपि क्रियादिभिः सम्बन्ध इति तत्राऽपि षष्ठी

---

१ परः स्वभिन्नः पुरुषादिरर्थः प्रयोजनं विशेषणीयत्वादिना यस्य स तादृशस्तस्य भावस्तेन रूपेण, पुरुषादिविशेषणतयेत्यर्थः। परं विशेषयितुमिति यावत्। अत एव विशेष्याऽनुक्तावपि केवलाद् राज्ञ इत्यादिपदादपि सम्बन्धसामान्यस्योपस्थितिः। यदि च तत्त्वेन विवक्षा न स्यात्तथा प्रतीतिरपि न स्यात्। एवञ्च तादृशविवक्षाबलादेव केवलादपि तथा प्रतीतिरिति भावः।

प्राप्नोति, यदि च कर्मादिविवक्षायां द्वितीयादिभिः षष्ठ्या बाध इत्युच्यते, तदा क्व षष्ठीति विशिष्य वक्तव्यमिति चेत्सत्यम् । तदेवाह– **स** इति । सम्बन्ध इत्यर्थः । **कारकविशेषाणा**मिति । कर्मादीनां षण्णामित्यर्थः । कर्मादीनामविवक्षायां सत्यां प्रतीयमाने सम्बन्धमात्रे षष्ठीति यावत् । अत एवोक्तं बृहन्न्यासे–'कर्मादिभ्योऽन्यः सम्बन्ध एवाऽवतिष्ठते इति सामर्थ्यात्सम्बन्धे षष्ठी भवती' ति । एवं च कारकसामान्यविवक्षायां षष्ठी, कारकविशेषविवक्षायां तु कर्मत्वादिनिमित्ता द्वितीयादयो भवन्तीति विवेकः । कर्मादीनामविवक्षायां हि सम्बन्धमात्रं प्रतीयत इति यत्र सम्बन्धमात्रप्रतीतिस्तित्र षष्ठी, यत्र पुनः कर्मादि विवक्षितम्, तत्र कर्मादेरधिकस्य भानमिति द्वितीयादय एव तत्र, न षष्ठीति निष्कृष्टोऽर्थः ॥ ६७ ॥

षष्ठ्यर्थानां सम्बन्धानां सम्भवन्तीमियत्तामाकाङ्क्षानिवृत्तये आह—

**एकं शतं हि षष्ठ्यर्थाः स्वस्वामित्वादिभेदतः ।**
**स्वस्वामित्वे यथा भूमेः पतिः स्वामी गवामयम् ॥६८॥**

**एकंशत**मिति । सम्भवमात्रत इत्थमुक्तिः । नत्वेतावदेवेत्यवधारणं बोध्यम् ! अधिकस्याऽपि सम्भवात् । अत एवोक्तं महाभाष्ये–'एकशतं षष्ठ्यर्थाः, यावन्तो वा सन्ति, सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ती' ति । के ते इत्याकङ्क्षापूरणायाह–**स्वेति** । प्रत्येकं सर्वेषामुपादानस्य दुःशकत्वादनावश्यकत्वाच्चाह–**आदी**ति । जन्यजनकभावादिरादिना गृह्यते । उदाहरणमाह– **भूमेरिति** । भूमिः

स्वम्, पतिश्च स्वामी, तयोर्भावे हि भूमेः पतिरिति प्रयोगः। एवमग्रेऽपि ॥ ६८ ॥

बोधवैशद्यार्थमुदाहरणान्तराण्याह—

**जन्यजनकसम्बन्धे जगतः पितरौ यथा।**
**[1] वध्यघातकभावे च यथा कंसस्य घातकः ॥ ६९ ॥**
**भोज्यभोजकभावे स्यादहे भोक्ताऽस्ति बर्हिणः।**
**धार्यधारकभावे च [2] यथा छत्रस्य धारकः ॥ ७० ॥**

कंसस्येति। कर्मविवक्षायां तु कृद्योगे कर्मण्येव षष्ठी। तदविवक्षायां सम्बन्धमात्रे षष्ठी, तदेदमुदाहरणम्। एवमहेरित्यत्र-च्छत्रस्येत्यत्राऽपि च बोध्यम्। अहिः सर्पः, बर्हिणो मयूरः ॥७०॥

अथ षष्ठीविषये विशेषः सङ्गृह्योच्यते—

अज्ञानार्थस्य जानातेः करणाद् गौणतो भवेत्।
षष्ठी तैलं स जानीते सर्पिषोऽत्र [3] भ्रमोऽमतिः ॥ १ ॥
रिरिष्टात्स्तादस्तादसतसात्प्रत्ययान्तयुक्ताद् गौणात्।
नाम्नः षष्ठी तमसः परस्ताज्जिनो बुधैर्गीतः ॥ २ ॥

---

१ 'वध्यवधकभावे तु यथा कंसस्य हिंसक' इति क० ग० पाठ।

२ 'तु' इति क० ग० पाठः।

३ अत्राऽज्ञानमित्यस्य न ज्ञानसामान्यभिन्नमर्थः। किन्तु ज्ञानं प्रमा, तद्भिन्नमप्रमात्मकं ज्ञानमेवाऽज्ञानम्। सर्पिषस्तैलत्वेन परिच्छेदे चात्र जानाति र्भवति तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानात्मकभ्रमरूपाऽज्ञानार्थे इत्याशयः।

गौणाद् द्विषोऽतृशन्तस्य वा षष्ठी कर्मणीष्यते ।
द्विषन् भव्यस्य योऽभव्यस्तं कदापि न स द्विषन् ॥ ३ ॥
द्वयोः कर्मणोरेकत्र स्याद् द्विकर्मकधातुषु ।
वा षष्ठी [1] नित्यमन्यत्रोभयत्राऽपीति केचन ॥ ४ ॥
मुख्ये कर्मणि दुह्यादे र्न्यादीनां गौणके तथा ।
केचिद्विकल्पमिच्छन्ति वैयाकरणतल्लजाः ॥ ५ ॥
जनस्य नेता सन्मार्गं सन्मार्गस्य जनं तथा [2] ।
जिनोऽबाधितविज्ञानः सन्मार्गस्य जनस्य [3] वा ॥ ६ ॥
सम्बन्धिनोः कृदन्तस्य गौणात्स्यात्कर्तृकर्मणोः ।
षष्ठी तीर्थस्य निर्मातु र्देशना मुक्तिदायिनी ॥ ७ ॥
कर्तृकर्मषष्ठ्योः प्राप्ते निमित्तस्य कृतो भवेत् ।
स्त्रियां विहिताऽणकाभ्यां षष्ठी वाऽन्यस्य [4] कर्त्तरि ॥ ८ ॥
धर्मस्य देशना दत्ता जिनानामथवा जिनैः ।
मुक्तेः सम्बन्धमिच्छूनां भव्यानां कामदा मता ॥ ९ ॥

---

१ एकत्र वा नित्यमन्यत्रेत्यन्वयः । उभयत्राऽपि नित्यमेव षष्ठीति केचनेत्यर्थः ।

२ नेतेति सम्बध्यते । जनं सन्मार्गस्य नेतेत्यर्थः ।

३ नेतेति सम्बध्यते । उभयत्राऽपीतिमते जनस्य सन्मार्गस्य नेतेत्युदाहरणम् ।

४ कर्मकर्तृषष्ठीप्राप्तिनिमित्तस्य स्त्रीविहिताऽणकाभ्यामन्यस्य कृतः कर्त्तरि वा षष्ठीत्यर्थः ।

केचिदुक्तस्थले षष्ठीं कर्मण्येव न कर्त्तरि ।
यथाऽऽश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालेनेत्युदाहरन् ॥ १० ॥
षष्ठी ज्ञेया विकल्पेन गौणात्कृत्यस्य कर्त्तरि ।
१ लोकेन मुक्तिकामेन सेवनीयो जिनेश्वरः ॥ ११ ॥
कृत्यो यदा भवेत्षष्ठ्या निमित्तः कर्तृकर्मणोः ।
नोभयत्र तदा षष्ठी प्रच्छ्यो धर्मं जनैर्मुनिः ॥ १२ ॥
क्तस्वानशतृणकचस्तृन्नुदन्ताऽव्ययाऽतृशः ।
डिस्खलर्थाश्चेत्येतेषां कृतां षष्ठी च नोभयोः २ ॥ १३ ॥
चारित्रं चरिता जिष्णू रिपून् कृत्वा तपो महत् ।
विद्वांस्तत्त्वं स्मरन् मन्त्रं सासहिश्च परीषहान् ॥ १४ ॥
घातिकर्माणि निघ्नानः कारको भवसंक्षयम् ।
यस्तेन सुलभो मोक्षोऽधीयताऽङ्गानि साधुना ॥ १५ ॥
वर्त्तमानात्तथाऽऽधारादन्यार्थे विहितौ यकौ ।
क्तक्तवतू तयोः कर्मकर्त्रोः षष्ठी न जायते ॥ १६ ॥
दीक्षाऽऽत्ता नेमिना बाल्यात्प्रभृति ब्रह्म पालितम् ।
तीर्थोद्धारं स कृतवान् ज्ञातमद्याऽपि देहिनाम् ॥ १७ ॥
नपुंसके कृतः क्तो यः षष्ठी वा तस्य कर्त्तरि ।

---

१ षष्ठीविकल्पात्तृतीयाऽत्र बोध्या । षष्ठ्यां तु लोकस्येत्यादिरूपेण प्रयोगः ।
२ कर्तृकर्मणोरित्यर्थः ।

विज्ञानसूरिणा प्रोक्तं १ तृप्तं तल्लोकचेतसः ॥ १८ ॥
कमेरन्यस्यैकान्तस्य न षष्ठी कर्मणीष्यते ।
पातकी घातुको जीवान् कामुकश्च परस्त्रियाः ॥ १९ ॥
ऋणे भविष्यदर्थे च कृतयोरिन्णिनो भवेत् ।
न कर्मणि षष्ठी दायी शतं ग्रामं गमी नरः ॥ २० ॥
विशेषः षष्ठीविषये यथाशास्त्रं समुच्चितः ।
परिशिष्टे तथा कश्चिदग्रे स वक्ष्यते पुनः ॥ २१ ॥

## ॥ अथ विभक्तिपरिशिष्टम् ॥

हेत्वर्थैरन्वितान्नाम्नो गौणात्सर्वा विभक्तयः ।
सर्वादेस्स्युस्तदेकार्थात्को हेतु र्वसतीह सः ॥ १ ॥
विवक्षिताऽध्वनोऽन्ताद्या विभक्ति र्वाऽध्वनोऽपि सा ।
गतशब्दाऽप्रयोगे स्याच्चेद्भावो भावलक्षणम् ॥ २ ॥
कदम्बतीर्थात्स्यादेकं योजनं सिद्धपर्वतः ।
गव्यूतौ च ततो हस्तगिरिः स्यादनुमानतः ॥ ३ ॥
ऋते इत्यव्ययेन स्याद्वर्जनार्थेन संयुतात् ।
द्वितीया गौणतो नाम्नः पञ्चमी च यथायथम् ॥ ४ ॥
ऋते धर्मं सुखं न स्यान्न मोक्षः संयमादृते ।

१ प्रवचनस्य तृप्तिजनकत्वात्कारणे कार्योपचारात्प्रोक्तं तृप्तम् । तेन च प्रवचनस्याऽव्यभिचारेणाऽसाधारण्येन च तृप्तिजनकत्वं ध्वन्यते ।

ऋते यथार्थवक्तृत्वमाप्तत्वे [१] जगतोऽपि तत् ॥ ५ ॥
विनाशब्देन संयुक्ताद् गौणान्नाम्नो विधीयते ।
द्वितीया च तृतीया च विभक्तिः पञ्चमी तथा ॥ ६ ॥
धर्माऽधर्मौ विना नाऽङ्गं विनाऽङ्गेन मुखं कुतः ? ।
मुखाद्विना न वक्तृत्वं तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥ ७ ॥
एनो योऽनञ्चेर्विहितस्तदन्तेनाऽन्विताद् भवेत् ।
गौणाद् द्वितीया षष्ठी च जायते [२] ऽञ्चेस्तु पञ्चमी ॥ ८ ॥
कदम्बाद्रेरुत्तरेण गिरिः शत्रुञ्जयो महान् ।
तं चाऽद्रिं दक्षिणेन [३] नदी शत्रुञ्जयाऽभिधा ॥ ९ ॥
दूरार्थादन्तिकार्थाच्च टाङसिङिविभक्तयः ।
असत्त्ववाचिनो नाम्नो विधीयन्ते यथायथम् ॥ १० ॥
[४] दूरेण दूराद्वा मुक्तेः सोऽन्तिके वाऽन्तिकं भवेत् ।
भवभ्रमणहेतो र्यो विषयस्याऽबुधो जनः ॥ ११ ॥
भूयोऽर्थाधिकशब्देनान्वितादल्पीयसो भवेत् ।
तृतीया गौणतो नाम्नोऽधिकं माषेण रुप्यकम् ॥ १२ ॥

---

१ जगतः सर्वस्याऽपि तदाप्तत्वम् । प्रसज्यते इति शेषः ।

२ अञ्चे र्य एनो विहितस्तदन्तेनाऽन्वितादित्यर्थः ।

३ शत्रुञ्जयमित्यर्थः ।

४ योऽबुधो जनो भवभ्रमणहेतो विषयस्याऽन्तिकेऽन्तिकं वा भवेत्स मुक्ते दूरेण दूराद्वेत्यन्वयः ।

पृथङ्नानाध्वनिभ्यां स्यादन्वितादू गौणनामतः ।
तृतीयापञ्चम्यौ जीवात्पृथग् जीवेन वाऽचितः ॥ १३ ॥
स्यात्तृतीया च षष्ठी च गौणात्तुल्यार्थकै र्युतात् ।
ज्ञेया मात्रा समाऽन्यस्त्री धर्मस्तुल्यः पितुस्तथा ॥ १४ ॥
हेत्वर्थैरन्विताद्गौणात्तदेकार्थाद्विभक्तयः ।
तृतीयाद्या विधीयन्ते भिक्षया हेतुना गतः ॥ १५ ॥
विहाय भोगान् प्राव्राजीत्स निमित्ताय मुक्तये ।
कर्माणीह न बध्यन्ते गृहीतात्कारणाद्व्रतात् ॥ १६ ॥
कालोऽध्वा च यः क्रिययो र्मध्ये गौणात्तदर्थकात् ।
पञ्चमी सप्तमी च स्यादिति शास्त्रव्यवस्थितिः ॥ १७ ॥
भुक्त्वाऽद्य स द्व्यहे भोक्ता द्व्यहादेता गतो मुनिः ।
योजने पश्यतीहस्थो लाति क्रोशाच्च पुद्गलान् ॥ १८ ॥
अल्पीयोवाचिना युक्ता [1] दधिकध्वनिना भवेत् ।
भूयोऽर्थाद्गौणतो नाम्नः पञ्चमी सप्तमी तथा ॥ १९ ॥
खार्यामस्त्यधिको द्रोणो द्रोणाच्चाऽऽधिकमाढकम् ।
अधिकं शतं सहस्रे शतात्सन्ति दशाऽधिकाः ॥ २० ॥
षष्ठी वाऽनादरे गम्ये यद्भावो भावलक्षणम् ।
तस्माद्गौणात्स प्राव्राजील्लोकस्य रुदतोऽममः ॥ २१ ॥
बुद्ध्या यदेकदेशस्य समुदायात्पृथक्कृतिः ।

१ अल्पीयोवाचिनाऽधिकध्वनिना युक्तादित्यन्वयः ।

जात्या गुणक्रियाद्रव्यैश्च तन्निर्धारणमुच्यते ॥ २२ ॥
गम्ये निर्धारणे षष्ठी सप्तमी चाऽपि गौणतः ।
आप्तेष्वत्र जिनो लोके सर्वमुख्यः प्रकीर्तितः ॥ २३ ॥
भवेद्विशेषाऽवगति र्यद्यपि शास्त्रात्तथापि यत्किञ्चित् ।
बोधार्थं परिशिष्टं विभक्तेश्चितं यथाशास्त्रम् ॥ २४ ॥

तदेवमनुक्तान्यभिधाय कर्मादीन्युक्तान्याह—

**जिनो जयति जैनेन प्राणिषु[1] क्रियते दया ।**
**स्नानीयं स्नात्यनेनेति दानीयोऽस्मै तु दीयते ॥ ७१ ॥**
**बिभेत्यस्मादसौ भीमो[2] यस्मिन्नास्यत आसनम् ।**
**गोमान् सन्त्यस्य गावश्च[3] प्रोक्तान्येषु यथाक्रमम् ॥७२**

॥ इति पण्डितश्रीअमरचन्द्रकृतं कारकविवरणं समाप्तम् ॥

**जिन** इति । अत्र जयतीति कर्त्तरि प्रत्यय इति कर्तुरुक्तत्वादर्थमात्रे जिनपदात्प्रथमा । उक्तार्थानामप्रयोग इति न्यायात्तत्सम्बन्धात्कर्मादिशक्तिषु त्यादिभिरनभिहितासु सत्सु द्वितीयादिविभक्तीनां विधानात्त्यादिभिरभिहितासु च तासु विशेषानभिधानात्परिशेषात्स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याशक्तिरूपाऽर्थमात्रे प्रथमैव जायते ।

न चाऽभिहिताः कर्मादिशक्तयोऽर्थमात्रं चेदनभिहिता अपि ।

---

१ 'णाम्' इति क० ग० पाठः । २ 'स्त्व' इति क० ग० पाठः ।
३ 'हि, प्रोक्तान्युक्तान्यमून्यहो' इति क० ग० पाठः ।

एवञ्च सर्वत्र प्रथमैव प्राप्नोतीति वाच्यम् । एवमेतत् । किन्त्वनभिहितासु सतीषु तासु विशेषविधानबलाद् द्वितीयादीनां भावात् ।

**जैनेनेति** । क्रियत इति कर्मणि प्रत्यय इति कर्मण उक्तत्वाद्द्येति प्रथमा । कर्त्तुश्चाऽनुक्तत्वाज्जैनेनेति तृतीया । **स्नानीयमिति** । **स्नात्यनेनेति** व्युत्पत्तिप्रदर्शनेन कृत्वा **स्नानीय**मित्यत्राऽनीयप्रत्ययेन करणार्थस्योक्तता प्रदर्शिता । एवञ्च स्नानीयं चूर्णमित्यादौ करणाच्चूर्णात्तृतीया न भवति, किन्तूक्तरीत्या प्रथमैव । एवं दानीयः साधुरित्यादौ न चतुर्थी, अनीयप्रत्ययेन सम्प्रदानार्थस्योक्तत्वात् । अत एव **दीयतेऽस्मै** इति विग्रहः प्रदर्शितः । भीमः सिंह इत्यादौ न सिंहपदात्पञ्चमी, फलकमासनमित्यादौ न फलकपदात्सप्तमी । अपादानाऽधिकरणयोरर्थयोरुक्तत्वज्ञापनार्थं **बिभेत्यस्मादित्यास्यते यस्मिन्निति** च विग्रह उक्तः । गोमांश्चैत्र इत्यादौ तद्धितेन सम्बन्धार्थस्योक्तत्वाच्च न चैत्रपदात्षष्ठी । अत एव सम्बन्धस्योक्तत्वसूचनार्थं **गावः सन्त्यस्येति** विग्रहःप्रदर्शितः । **प्रोक्तानीति** । **एषु** स्थलेषु **यथाक्रमं** कर्त्रादिक्रमेण **प्रोक्तानि**, कारकाणि ज्ञेयानीति शेषः । उपलक्षणमेतत् । यावता—समासेन चित्रगुश्चैत्र इत्यादौ सम्बन्धादेः, निपातेन 'अमुं नारद इत्यबोधि स' इत्यादौ च कर्मादेरर्थस्योक्तता । अत एव चैत्रादिपदान्न षष्ठ्यादीति बोध्यम् ।

नन्वासनमित्यादावनटाऽधिकरणाऽर्थस्योक्ततया 'आसन आस्त' इत्यादौ सप्तम्याद्यनापत्तिरिति चेन्न । गुणभूताऽऽसिक्रियाऽधिकरणत्व-

शक्तेरुक्तावपि मुख्याऽऽसिक्रियाऽधिकरणत्वस्याऽनुक्तत्वात्तत्र सप्तमी-विधानात् । व्यवहाराणां प्रधानानुयायित्वात् ।

यद्यपि प्रासादे आस्ते इत्यादौ [१] तथा सम्भवेऽपि आसन आस्त इत्यादौ कृदन्ताऽऽख्यातवाच्याऽऽसिक्रियैकैव, क्रियायाः कारकभेदात्फलभेदादेव च भेदात् । अत्र च कर्त्तुर्देवदत्तादेरधिकरण-द्रव्यस्याऽकर्मकाणां फलमात्रवाचकत्वपक्षे फलस्य चाऽभेदात् । नाऽ-प्यधिकरणता भिन्ना, तस्या निरूपकभेदेन भेदात् । अत्र च तन्निरूपक-क्रियाया ऐक्यात् । एवञ्चोक्तस्थले सप्तमीविधाने विहितं समाधानं न मनःसमाधयेऽलम् [२] । तथाप्यासनमास्ते इत्यनेनो [३] क्तार्थाऽनभि-धानात्कृदन्तवाच्याऽऽसिक्रियासामान्यनिरूपिताया अधिकरणत्वशक्तेरु-क्तावपि शब्दशक्तिस्वाभाव्यादाख्यातवाच्यकर्तृविशेषवृत्त्यासिक्रियावि-शेषनिरूपितायास्तस्याः सामान्यातिदेशे विशेषाऽनतिदेशवदनुक्ततया तत्र यथाकथञ्चित्सप्तमी समाधेया ।

अथ " चरमजिनं श्रीवीरं वन्दे करुणागारं त्रातारमि " त्यादौ त्रातृत्वादिगुणविशिष्टस्य श्रीवीरस्य वन्दनक्रियाव्याप्यतया ततो जातया द्वितीयया कर्मण उक्ततयोक्तरीत्या चरमजिनादिपदाद्द्वितीया नोपपद्यते इति चेत् ।

---

१ तत्र हि प्रसत्त्यासनक्रिययोर्भेदात् ' प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ती ' त्या-श्रित्य प्रधानक्रियाऽपेक्षाधिकरणत्वनिमित्तकसप्तमीसम्भवेऽपीत्यर्थः ।

२ गौणमुख्यव्यवहारस्य भेदनियतत्वादभिन्ने तदभावान्मुख्यक्रियापेक्षा-धिकरणत्वनिमित्तकसप्तमीत्येवं वक्तुमशक्यत्वादिति भावः ।

३ आसनमास्त इति वाक्येन ' आसने आस्ते ' इत्यर्थानभिधानादित्यर्थः ।

अत्रेत्थं विचार्यताम्—'नीलघटानयने नीले गुणे नाऽनयनाऽन्वय इति न वक्तुं शक्यम्। ततश्च द्रव्ये इव गुणेष्वपि क्रियान्वयात्प्रत्येकं पृथक् क्रियाव्याप्यतया द्रव्यवाचकादिव गुणवाचकादपि द्वितीया न्यायसिद्धा। पश्चाच्च पार्ष्ठिको विशेषणविशेष्यभावेनाऽन्वयः।

यदि तु गुणादिषु न साक्षात्क्रियान्वयः, किन्तु द्रव्यद्वारा। एवं च द्रव्यस्यैव मुख्यकर्मत्वमिति तस्मिन्नुक्ते गौणकर्मणोऽनुक्ततया 'नीलं घट आनीयते' इत्यादिप्रयोगापत्तिरिति विभाव्यते।

अत्रेदं द्रष्टव्यम्—'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नाऽपि केवलप्रत्यय' इति नियमादविभक्तिकानां प्रयोगानर्हत्वात्समानविभक्तिमन्तरेण च सामानाधिकरण्येन विशेषणत्वाऽयोगात्—क्रियासु साक्षादन्वयेन द्रव्यस्यैव कर्मत्वेऽपि अकर्मणामपि विशेषणानां द्रव्यकर्मत्वेनैव याचितमणिमण्डनन्यायेन द्वितीया। धनिकमित्राणां स्वयं निर्धनत्वेऽपि तदेकयोगक्षेमत्वात्तद्धनिकधनेनैव फलभाक्त्ववद्वेति। परमत्र पक्षे—'कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपी'ति भाष्यं स्पष्टमेव विरुध्यते इति विशेषणानां कर्मत्वे गौणमुख्यतावार्त्ताऽकर्मत्वे भाष्यविरोध इति सेयमुभयतः पाशारज्जुः।

किञ्च कटादिद्रव्ये प्रकरणादिना लभ्ये भीष्मं करोतीति प्रयोगानापत्तिः, भीष्मस्य गुणत्वात्स्वतोऽकर्मत्वाद् द्रव्याऽनुक्तेस्तत्कर्मणा कर्मत्वस्याऽपि वक्तुमशक्यत्वाच्चेति वृक्षात्पतिते मुद्गरप्रहारः। न च प्रकरणादिना लब्धेन द्रव्येण निर्वाहः। शाब्द्या आकाङ्क्षायाः

शब्देनैव पूरणात् । शब्दानुपस्थितस्य शाब्दबोधे भानाऽङ्गीकारेऽतिप्रसङ्गापत्तेः ।

नन्वत्र भीष्मस्यैव विशेष्यत्वेन विवक्षेति तस्यैव साक्षात्क्रियान्वयो 'गां दोग्धी' तिवदिति चेत्, एवं तर्हि प्रत्येकं पृथक् साक्षात्क्रियाऽन्वयेन कर्मत्वमुपपाद्य पश्चादाकाङ्क्षादिवशात्पदान्तरसम्बन्धो जायताम्, का हानिः?, अलं भीष्मादीनां द्वितीयाद्यर्थं परमुखप्रेक्षिकया । एवञ्च भाष्यमपि न विरुध्यते ।

अत एवाऽत्र [१] पक्षे बृहद्वृत्तौ न निर्भरः । यतश्चोक्तं तत्रैवाऽग्रे-'कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय' इत्यादौ तु करोतेरुत्पद्यमानः क्तो यस्य यस्य तया क्रियया सम्बन्धस्तस्य तस्य साकल्येन कर्मत्वमभिदधातीति क्वचिदपि द्वितीया न भवती' ति । यदि हि गुणानां क्रिययाऽसम्बन्ध एवेष्टः स्यात्तर्हि' यस्य यस्य तया क्रियया सम्बन्ध' इति कथमभिदध्यात्? ।

परेतु-न द्रव्यस्यैव साक्षात्क्रियाऽन्वय इति न गुणानां कारकत्वमिति युक्तम् । परम्परयाऽपि क्रियाऽन्वये कारकत्वात् । अन्यथाऽधिकरणस्य कर्त्राद्यन्वयद्वारैव क्रियाऽन्वयात्कारकत्वं न स्यात् । गुणानां परम्परया क्रियाऽन्वय इत्यपि न युक्तम् । 'यथैव ह्यसौ कटं करोत्येवं भीष्ममपी' ति भाष्याद् गुणानामपि साक्षात्क्रियान्वयस्य

---

१ विशेषणानां द्रव्यकर्मत्वेनैव याचितमणिमण्डनन्यायेन द्वितीयेत्यादिपक्षे इत्यर्थः ।

स्पष्टं प्रतिपादनात् । एवञ्च परम्परया क्रियाऽन्वयाद् गौणकर्मतेत्यपि समाहिता । [१] पार्ष्ठिकाऽन्वयेन च गुणद्रव्यतेत्याहुः ।

पक्त्वौदनो भुज्यते देवदत्तेनेत्यादौ तु पचिक्रियाकर्मणोऽनुक्तावपि भुजिक्रियाकर्मण उक्ततया व्यवहाराणां प्रधानाऽनुयायित्वात्प्रथमैव । नह्येकत्र विभक्तिद्वयमेकदा भवितुमर्हति । एवञ्चेदृशस्थलेषु व्यवहाराऽनुरोधादेव व्यवस्था । तथा चोक्तम्—

"प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक् ।
शक्ति गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ॥ १ ॥
प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाऽभिधीयते" इति ।

यत्तु 'भावाऽभिधायिना क्त्वाप्रत्ययेनौदनाऽधिकरणाऽप्रधानपचिक्रियाविषया कर्मशक्तिरनभिहिताऽपि प्रधानभुजिक्रियाविषयाऽऽत्मनेपदेनाऽभिहितेति [२] तद्वत्प्रकाशमाना द्वितीयोत्पत्तौ निमित्तं न भवती' ति समाधानम् । तन्नाऽतिमनोज्ञम् । नहि या पचिक्रियाविषया सैव भुजिक्रियाविषयाऽपि कर्मशक्तिः । शक्तेर्निरूपकभेदेन भेदात् । अत एव—यत्र पुनरेकद्रव्याधारा प्रधानाऽप्रधानक्रियाविषयाऽनेका शक्तिरि' त्युक्तम् । शक्तेरभेदे 'ऽनेके' ति कथनाऽसङ्गतेः । नवैकत्र

१ नन्वेवं गुणानामपि साक्षात्क्रियान्वये 'गौणं कर्म मुख्यं कर्मे' त्येवं गौणमुख्यव्यवहारो न स्यात्सर्वत्र मुख्यकर्मत्वस्यैव सत्त्वादित्यत आह—पार्ष्ठिकान्वयेनेत्यादि । गुणद्रव्यता = विशेषणविशेष्यभावः गौणमुख्यतेति यावत् ।

२ अभिहितवदित्यर्थः ।

प्रधानाऽप्रधानभावो युज्यते। तस्य व्यक्तिभेदनियतत्वात्। एवञ्च पचिक्रियाविषया सा न भुजिक्रियाविषयाऽऽत्मनेपदेनोक्ता भवितुमर्हति।

ननु मा भूदुक्ता, किन्त्वेकद्रव्याधारत्वादुक्तैकाऽनुक्तां भिन्नामपि तामुक्तवत्प्रकाशयतीत्यर्थे तत्तात्पर्यम्। अत एव 'तद्वत्प्रकाशमाने' त्युक्तमिति चेत्। १ उक्तत्युक्त्यैव सिद्धावीदृशद्राविड़प्राणायामस्याऽनावश्यकत्वात्। यद्वोपायस्योपायान्तरादूषकत्वमित्येषोऽप्युपायः। परमत्र कल्पनाऽऽधिक्यं स्पष्टमेवेति विचारणीयम्।

कृतपूर्वी कटमित्यादौ वृत्तौ सत्यां न कटादेः कृतादिनाऽन्वयः। वृत्तावेकार्थीभावस्वीकारात्केवलस्य कृतपदार्थस्य पदार्थैकदेशतयाऽन्यत्राऽन्वयाऽयोगात्। किन्तु कृतपूर्वीपदशाब्दबोधाऽनन्तरं क्रियाफलजिज्ञासायां कटादेरुपस्थित्या क्रियाव्याप्यतया द्वितीयैव भवति। न चाऽस्तु क्रियाव्याप्यत्वं कटादेः, किन्तु केनोक्ता कर्मत्वशक्तिरिति द्वितीया न प्राप्नोतीति वाच्यम्। वृत्तौ सत्यां तस्योपसर्जनतया मुख्यत्वविघाताद् गौणकर्मत्वनिमित्तद्वितीयोत्पत्तेरबाधात्। अत एव सिद्धहैमशब्दाऽनुशासने 'अकथितादि' त्यनुक्त्वा 'गौणादि' त्युक्तम्। एवञ्च कृतेति कर्मसामान्य एव क्तो बोध्यो न तु भावे। भावे हि क्तः करोतेरकर्मकत्वं विना न सम्भवतीति भावे क्ते क्रियाफलजिज्ञासैव निर्मूला स्यादिति कटादे द्वितीया न स्यादित्यवधेयम्।

---

१ व्यवहाराणां प्रधानाऽनुयायित्वयुक्त्येत्यर्थः।

ननु कटादेः क्रियायामन्वयोऽपि दुरुपपादः, १ तस्या अपि पदार्थैकदेशत्वादविगृहीतत्वेन न्यग्भूतत्वाच्चेति चेन्न। क्रियाऽन्वय-विषये 'पदार्थः पदार्थेनाऽन्वेति, न तु पदार्थैकदेशेने' ति व्युत्पत्त्य-स्वीकारात्। विगृहीताया इवाविगृहीताया अपीतरत्राऽन्वये बाधका-ऽभावाच्च। यदुक्तम्—

"अविग्रहा गतादिस्था यथा ग्रामादिकर्मभिः।
क्रिया सम्बध्यते तद्वत्कृतपूर्व्यादिषु स्थिते" ति ॥ १ ॥

यत्तूक्तं हरिणा—

"विशेषकर्मसम्बन्धे निर्मुक्तेऽपि कृतादिभिः।
विशेषनिरपेक्षोऽन्यः कृतशब्दः प्रवर्त्तते" ॥ १ ॥
"अकर्मकत्वे सत्येवं क्तान्तं भावाऽभिधायि तत्।
ततः क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणाम् ॥ २ ॥

इति। अत्रेदं चिन्त्यम्—कारकाणां क्रियायामेवाऽन्वयः, पश्चात्तेषां परस्परं पार्ष्ठिकोऽन्वयः। क्रियाऽन्वयाऽभावे च न कारकत्वम्, कारक-मिति महासंज्ञाकरणबलात्करोति क्रियां निर्वर्त्तयतीति व्युत्पत्त्या क्रियान्व-यिन एव कारकत्वलाभात्। अकर्मकत्वे च भावे क्ते न कटस्य क्रिया-ऽन्वय इत्यायातम्। अन्यथाऽकर्मकत्वमेव न स्यात्। क्रियावता कर्त्रा च न कर्माऽन्वयः, क्रियाऽन्वयाऽभावेन कर्मत्वस्यैवाऽभावात्कारकाणां क्रियान्वयनियमाच्च। एवञ्च क्रियाऽन्वयं विना न पार्ष्ठिकोऽन्वयोऽपि।

एवञ्चेदं बोध्यम्— कृतः कट इत्यादौ कटेन कर्मसम्बन्धो

१ क्रियाया इत्यर्थः। अविगृहीतत्वेन=विशेषणत्वेन।

निर्मुक्तः । स एव तादृशः कर्मत्वशक्तिमान् कटशब्दः कृतपूर्वीत्यनेनाऽन्वेति । न तु कृतपूर्व्यादिपदार्थक्रियाऽन्वयेन कर्मत्वं तस्य । अन्यथाऽकर्मकत्वाऽभावाद् भावे क्तो न स्यात्, कटशब्दाद् द्वितीया च न स्यात् । [1] अत एवोक्तं 'ततः क्रियावता कर्त्रा योगो भवति कर्मणामि' ति । नन्वेवमस्त्वन्वयः, द्वितीया तु कथम्, कृतेति क्तेन कटकर्मण उक्तत्वादिति चेन्न । कृतपूर्वीत्यनेनाऽन्वये कृतसम्बन्धस्य तिरोधानादेत[2]त्सम्बन्धस्य चोद्भूतत्वात्कटकर्मणो गौणत्वात्तद्विधानात् । अत्र च कटशब्दाद्द्वितीयाविधाने कः प्रकार उपादेय इत्यत्र सुधिय एव प्रमाणम् ।

इति कारकविवरणे श्रीतपोगच्छाधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरितालध्वजराणकपुरकापरडाद्यनेकतीर्थोद्धारकाचार्यश्रीविजयनेमिसूरीश्वरपट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्टधरसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजयकस्तूरसूरीश्वरशिष्यरत्नप्रख्यातव्याख्यातृकविरलपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यपन्यासश्री--शुभङ्करविजयगणिविरचितभद्रङ्करोदयाभिधा टीका समाप्ता ॥

---

१ कटेत्यस्य न क्रियायामपि तु कृतपूर्वीत्यत्राऽन्वयादेवेत्यर्थः । क्रियाऽन्यये 'क्रियावता कर्त्रा योग' इत्युक्तिरसङ्गता स्यादिति भावः ।

२ कृतपूर्वीत्येतत्सम्बन्धस्येत्यर्थः ।

इति कारकविवरणे प्रख्यातव्याख्यातृकविरलपन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवरशिष्यरत्नविपश्चिदपश्चिमपन्यासप्रवरश्रीशुभङ्करविजयगणिवरशिष्य---मुनिसूर्योदयविजयविरचितं प्रभानाम टिप्पणं समाप्तम् ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीनेमि-विज्ञान-कस्तूरसूरि-पन्यासयशोभद्र-शुभङ्करसद्गुरुभ्यो नमः ।

# ❀ कारकपरीक्षा ❀

## ॥ भद्रङ्करोदयाख्यविवृतिसहिता ॥

अथ तत्र 'सुप्तिङन्तं पदम्' (पा०) । अत्र सुबिति स्वादयः

### भद्रङ्करोदया

अधिष्ठितमगोचरं कुमतिकीटकृष्टाऽऽत्मनां
पदान्यनु पदं शिवं यदिति कीर्त्यते तत्सनात् ।
जिनं जितभयं भजे गुरुवरं यशोभद्रवाक्-
सुगीतमसमं गुणैः कविरविं नमाम्यादरात् ॥ १ ॥

शुभङ्करः पन्यासः करोति कारकपरीक्षायाः ।
भद्रङ्करोदयाख्यामिह विषमस्थलानां विवृतिम् ॥ २ ॥

अथ 'न कण्ठमेति कारकं कठिनमि'त्यध्येतॄणां प्रवादात्कारकविषये सहजबुद्ध्याऽपि स्फुरन्तीर्विशदव्युत्पत्तिबलेनैव समाधातव्या विप्रतिपत्तीर्निराकर्तुकामश्च महोपाध्यायः पशुपतिरल्पायासेन तदधिगमो यथा स्यादिति सुगमप्रकारेण कारकपरीक्षाख्यं प्रकरणं समारभते—अथेत्यादिना । सुप्तिङन्तमिति । 'स्त्याद्यन्तं पदमि'ति सिद्धहेमशब्दानुशासनसूत्रम् । तदनुसारेण च सुपोऽर्थे स्यादिपदस्य, स्वाद्यर्थे स्यादिपदस्य, प्रथमैक-

सप्त विभक्तयो गृह्यन्ते[१]। तत्र प्रथमा प्रथममवगता तावद्विचार्यते। का पुनरियं प्रथमा ?, 'सु औ जसि' ति। तस्याः पुनरेतल्लक्षणम्– 'प्रातिपदिकार्थे'त्यादि। तत्र अद्वयवादिनामेतद्दर्शनम्–'सत्ता प्रातिपदिकार्थ' इति। तथा चाहुः[२]–'सत्ता नाम काचिदनादिनिधनरूपा नित्यत्वेन व्यवस्थिता सर्वशब्दैरभिधीयत' इति। तदुक्तम्–

सम्बन्धि-भेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥१॥

## भद्रङ्करोदया

**वचने "सु" इत्यस्य स्थाने "सि" इत्यस्य प्रातिपदिकपदार्थे नामपदस्य च व्यवहारः। प्रथममवगतेति। सप्तसु विभक्तिषु प्राथम्यादादावुपस्थितेत्यर्थः। प्रातीत्यादि। 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इति पा० सूत्रम्। 'नामार्थे प्रथमा' इति सि० हे० सूत्रम्। कः प्रातिपदिकार्थ इत्याकाङ्क्षायामाह – सत्ता प्रातिपदिकार्थ इति। का सत्तेति जिज्ञासानिवृत्तये आह–सत्ता नामेति। काचिदिति। स्वरूपतोऽनिर्वचनीयेत्यर्थः। तटस्थ्येन लक्षयन्नाह-अनादिनिधनरूपेत्यादि। आदिश्च निधनं चाऽऽदिनिधने, अविद्यमाने ते यस्य तत्तादृशं रूपं यस्याः सा तादृशी। अनाद्यनन्तेत्यर्थः। प्रागभावाऽप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाऽप्रतियोगिनीत्यर्थः। नित्यत्वेन व्यवस्थितेति। कूटस्थरूपेत्यर्थः। उपचयाऽपचयरहिताऽभिन्ना चेति यावत्। नन्वेवं घटपटादिपदार्थानामैक्यमापद्यत इति चेत्तत्राह–सम्बन्धिभेदादित्यादि। एवंच जातिभेदात्पदार्थभेदः। जातिश्च गवादिसम्बन्धिभेदात्कल्पितभेदवती सत्तैव। तादृश्यामेव च सत्तायां शब्दा**

---

१ 'युज्यन्ते' इति क०। २ 'तथा च तेषां दर्शनम्' इति क०।

प्राप्तक्रमविशेषत्वात्[१] क्रिया सैवाऽभिधीयते ।
क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति चेष्यते[२] ॥ २ ॥

अतस्तां[३] प्रातिपदिकार्थं धात्वर्थं च चक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥ ३ ॥

यद्येव (मभाव[४]) शशविषाणादिशब्देभ्यः प्रथमा न प्राप्नोति-तेषामभाववाचकत्वेन सत्ताया अभावात् । 'नष्टः पटः, (घटो[५]

## भद्रङ्करोदया

वर्त्तन्त इति निश्चयनयमतेऽभेदो व्यवहारनयमते च कल्पितो भेद इति भेदाभेदात्मिका सत्ता नामार्थ इति सर्वं समञ्जसमित्याशयः । नन्वेवं क्रिया नाऽनाद्यनन्तेति सा न सत्तेति न सत्ताऽद्वैतम् । इयं क्रियेदं द्रव्य-मित्यादिव्यवहारानुपपत्तिश्च, सत्ताऽद्वैतवादिनां सत्ताऽतिरिक्तपदार्थाऽभावा-दित्यत आह-प्राप्तेत्यादि । आरोपितक्रमरूपा सत्ता क्रिया, संहृतक्रमरूपा च सा सर्वं द्रव्यमित्यर्थः । एवञ्च व्यवहारनयमते उपाधिभेदात्कल्पित एव क्रियाद्रव्यादिव्यवहार इति भावः । उपसंहरन्नाह-अत इत्यादि । उक्तप्रकारेण भेदाऽभेदाभ्यां सर्वव्यवहारसिद्धेः सत्ताऽद्वैतस्योपपादनाद्धेतो--रित्यर्थः । तां सत्तामेव । सेति । निश्चयनयाऽभिमता, महानात्मा= ब्रह्मात्मिका । व्यापिकाऽभिन्ना चेति यावत् । तामिति । व्यवहारनया-भिमतामारोपितभेदवतीं जात्याद्यात्मिकां सत्तामित्यर्थः ।

एवमिति । सत्ताया नामार्थत्व इत्यर्थः । सत्ताया अभावादिति । सतो भावो हि सत्ता सत्सु-भावेषु घटादिष्वेव स्यात् । अभावादिपदस्य

१ 'विशेषत्त्वात् क्रियायै' इति क० । २ 'चोच्यते' इति क० ।
३ 'तांसां' इति क० ।
४-५-६ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० पुस्तके नास्ति ।

भविष्यती') त्यादौ प्रथमा न स्यात्। (नष्टाऽनुत्पन्नयोः ६ सत्ताऽभावात्। 'अङ्कुरो जायत' इत्यादौ च प्रथमा न स्यात्) सतो जन्माऽभावात्।

अत्रोच्यते—नेह वस्तुसत्ताऽभिप्रेता, किं तर्हि?, अभिधेय-(सत्ता)=अभिधेयभूतस्याऽर्थस्य विद्यमानता। सा चाऽभावशशविषाणादिशब्दानामपि विद्यते। तथा चोक्तं न्यासकृता—"अभावोऽप्यभिधेयो भवत्येव। अन्यथा हि अभावादिवचनमनुच्चारणीयं [१] स्यात्। नह्यनर्थकं वचनं प्रयोगमर्हति। अर्थप्रत्यायनाय (हि) शब्दः प्रयुज्यते। स चेह नास्ति, किं प्रयोगेण?। अस्ति चाऽभावादिशब्दानां प्रयोगः। ततो निश्चीयते विपश्चिताऽभावोऽप्यभिधेय" इति। [२] भूत-

## भद्रङ्करोदया

चाऽभाव एवाऽर्थ इति तत्र सत्ताया अभावात्तस्या नाऽभावादिनामार्थत्वमिति सत्ताया अभाव इति भावः। नष्टेऽनुत्पन्ने चाऽऽश्रयाऽभावादेव सा नास्ति। क्रमरूपस्य संहार इत्याद्युक्तरीत्या नित्यसत्ताऽभिन्नघटादेरतीताऽनागतत्वयोरभावाच्च "नष्टः पट" इत्यादिवाक्यानामेवाऽसम्भवः स्यात्। एवम् 'अङ्कुरो जायत' इत्यादावप्युपपादनीयम्।

अभिधेयसत्तेतिपदार्थं विवृण्वन्नाह—अभिधेयभूतस्येत्यादि। बोधविषयतयेति शेषः। सा चेति। उक्तप्रकारा सत्ता चेत्यर्थः।

अभावादिवचनस्याऽनुच्चारणीयत्वे युक्तिमाह—नह्यनर्थकमित्यादि।

---

१ 'अभावादिति वचनमुच्चारणीयमि' ति क० पाठः।

२ 'भूतभविष्यदुत्पन्नं सद्वा वस्त्वभिधेयं यत्सत्तया न व्यभिचरती' ति क० पाठः।

भविष्यदत्यन्ताऽसद्वा चाऽभिधयसत्तां न व्यभिचरति। भाष्यकृताऽप्युक्तम्–“ न पदार्थः सत्तां व्यभिचरति ”। वस्तुसत्तापक्षे भाष्यवचनमिदमनुपन्नं स्यात्, पदार्थस्य वस्तुसत्ताव्यभिचारात् ‘नष्टो घट’ इत्यादौ प्रयोगे। एवमभावः[1] सत्ता विचारितः।

‘यत्राऽर्थान्तरनिरपेक्षा शब्दस्य वृत्तिः स शब्दार्थ’ इति न्यायः। अत्रोच्यते–जातिशब्दानां गवादीनां जात्यपेक्षा द्रव्ये वृत्तिः, गुणशब्दानां शुक्लादीनां गुणापेक्षा, क्रियाशब्दानां पाचकादीनां क्रियापेक्षेत्यस्त्यर्थान्तरापेक्षा तेषामिति तद्वाचिभ्यः प्रथमया न भवितव्यमिति।

## भद्रङ्करोदया

वस्तुसत्ताव्यभिचारादिति। नष्टो घटो हि पदार्थः–पदजन्यबोधविषयोऽस्ति, नतु वस्तुत्वेन सन्, नाशादिति वस्तुसत्ताया अभावेऽपि पदार्थसत्तेति पदार्थो वस्तुसत्ताव्यभिचारीति।

यदुक्तमभिधेयार्थस्य विद्यमानतेति। तत्र शब्दाभिधेयःकोऽर्थ इति जिज्ञासानिवृत्तये शब्दार्थं परीक्षमाण आह–यत्रेत्यादिना।

द्रव्ये वृत्तिरिति। एतद् गुणापेक्षेत्यत्र क्रियापक्षेत्यत्र च सम्बन्धनीयम्। तेषामिति। जातिशब्दादीनामित्यर्थः। तद्वाचिभ्य इति। गवादिवाचिभ्य इत्यर्थः। न भवितव्यमिति। उक्तरीत्या गवादीनां शब्दार्थत्वाऽभावादभिधेयसत्तारूपनामार्थाऽभावादिति भावः।

---

१ ‘एवं सत्ताभावो विचारित’ इति क० पाठः।

उच्यते—यो येनाऽभिधीयते स तस्याऽर्थः। जात्यादिविशिष्ट एवाऽर्थो जातिशब्दादिभि[१]रभिधीयते। जात्याद्यपेक्षा तु स्वार्थ एवाऽपेक्षिता। जात्यादिविशिष्ट एव तेषामर्थो नार्थान्तरं जात्यादय इति तदर्थाऽपरित्यागात्। (प्रथम)प्रवृत्तौ यन्निमित्तमपेक्षते तद्विशिष्ट एव तस्याऽर्थ इति नाऽर्थान्तरं भवति। यत्पुनः क्वचिदर्थे वर्त्तित्वा[२]पुनरर्थान्तरे वर्त्तितुं निमित्तमुपादीयते तदर्थान्तरमिह द्रष्टव्यम्।

यद्येवं 'गौ वाहीकः, सिंहो माणवकः' इत्यत्र गोशब्दो गवि वर्तित्वा सिंहशब्दश्च स्वार्थे वर्त्तित्वा पुनरर्थान्तरे वर्त्तते। अस्त्य-

## भद्रङ्करोदया

तदर्थाऽपरित्यागादिति। एवं च यदर्थो यद्विशिष्ट एव भवति न च परित्यजति स्वार्थं एवाऽपेक्ष्यते च स तदर्थ इत्याशयः। नन्वेवं गुणविशिष्ट एव द्रव्यशब्दार्थो गुणस्य कदाप्यपरित्यागादिति गुणो द्रव्यशब्दस्य शब्दार्थ आपद्यते इति चेत्तत्राह-प्रथमप्रवृत्तावित्यादि। गवादयः शब्दा हि प्रथमप्रवृत्तौ गोत्वाद्येव निमित्तमपेक्षन्ते, तद्विशिष्टा एव च तदर्था इति नार्थान्तरम्। द्रव्यशब्दश्च प्रथमप्रवृत्तौ द्रव्यत्वमेव निमित्तमपेक्षते नतु गुणं क्रियादिभिर्विनिगमनाविरहादिति तत्र गुणादिर्न द्रव्यशब्दार्थः। प्रथमेतिप्रवृत्तिविशेषणफलमाह-यत्पुनरित्यादिना। यथा द्रव्यशब्दो द्रव्यत्वविशिष्टे वर्तित्वा प्रयोजनवशाद् गुणविशिष्टे वर्तितुं गुणं निमित्तमपेक्षत इति गुणोऽर्थान्तरमिति न गुणविशिष्ट इति द्रव्यशब्दार्थः, किन्तु द्रव्यत्वविशिष्ट एवेति।

---

१ 'शब्दैरभि' इति क० पाठः।

२ 'वर्तित्वात्' इति क० पाठः। एवमग्रेऽपि।

र्थान्तराऽपेक्षा, अतः प्रथमया न भवितव्यम् । प्रातिपदिकार्थाऽभावात् । किं च 'स्थाणु र्वा पुरुषो वे' ति संशयातिरिक्तः प्रातिपदिकार्थः । 'गौरिव गवयः' इत्यत्रोपमानाऽतिरिक्तः, 'नीलमुत्पलम्, कष्टं श्रितः, शङ्कुलया खण्डः, कुबेराय बलिः, वृकेभ्यो भयम्, राज्ञः पुरुषः, अक्षेषु शौण्डः' इत्यादौ विशेषणविशेष्यभावाऽतिरिक्तः प्रातिपदिकार्थ इत्ययुक्तं[१] प्रथमया भवितुम् । किञ्च 'वाक्यसमानार्था वृत्तिरि'ति सर्वत्र समासे विशेषणविशिष्ट एवाऽर्थोऽभिधीयते इति समासात्प्रथमा न प्राप्नोति । किंच कृत्तद्धितयोः सम्बन्धाऽभिधानं (भावप्रत्ययेने) ति सम्बन्धाऽतिरिक्तवृत्तेः कृदन्तात्तद्धितान्ताच्च (त्वतलाद्यन्तात्) प्रथमया न भवितव्यम् । किं च 'देवदत्तः पचती' त्यत्र कर्त्तरि 'पच्यते ओदन' इति कर्मणि[२] चाऽतिरिक्ते प्रथमा न स्यात्, मातृशब्दे च । अतिरिक्तनिषेधादिति ।

अत्रोच्यते—यतोऽर्थोऽन्वयी (ततः स) प्रातिपदिकार्थोऽन्वयव्यतिरेकसिद्धः । तथा चोक्तम्—'यदनुवृत्तौ योऽनुवर्त्तते यन्निवृत्तौ यो निवर्त्तते' इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां यस्याभिधानशक्तिरवधारिता स

भद्रङ्करोदया

अतिरिक्तनिषेधादिति । **अतिरिक्तस्याऽधिकस्य निषेधाद्वर्जनादित्यर्थः । 'प्रातिपदिकार्थ' इत्यादिसूत्रे मात्रग्रहणेन प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यर्थात् तदधिकस्य वर्जनं लभ्यते इति ।**

---

१ 'इत्युक्तं' इति क० पाठः । २ 'कर्माऽतिरिक्ते' इति क० पाठः

तस्यार्थः । तत्र 'वृक्षः, वृक्षेणे' त्यादौ सर्वेषु विभक्त्यर्थेषु फलमूलोपलम्भकाऽनुरूपोऽर्थ [1] उपात्तसङ्ख्याकर्मादिविशेषितः [2] सर्वविभक्त्यर्थाऽन्वयी वर्त्तते, स तस्यार्थः । यदुक्तम्—

"यत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शक्तिस्तत्राऽवसीयते ॥१॥ इति ।

तदेवं योऽसौ सर्वविभक्त्यर्थाऽन्वयी अन्वयव्यतिरेकसिद्धः प्रातिपदिकार्थस्तन्मात्रं सङ्गृह्यते । (तत्र) प्रथमं प्रथमा कर्त्तव्या । तत [3] उत्तरकालं सिद्धपदं पदान्तरेण [4] सम्बन्धमुपैति । पदान्तरसम्बन्धाद् यच्चदाधिक्यमुपजायते, नाऽसौ पदार्थः । किन्तु नामपदाऽवस्थायां पूर्वमप्रतीतोऽर्थः पदान्तरसन्निधावुत्तरकालमवगम्यमानः पदसमुदायगम्यः स्वभावाद्वाक्यार्थ इत्यवधार्यते । न च तत्राऽर्थे प्रथमा, पूर्वमेवाऽन्वयिनि प्रातिपदिकार्थे प्रथमाया उत्पन्नत्वात् । (तदेवं) सर्वोऽयं कुचोद्यांऽशखर एकप्रहारेणैव निरस्तः । तथा चोक्तम्—

"केवलेन पदेनाऽर्थो यावानेवाऽभिधीयते ।

## भद्रङ्करोदया

स्वभावादिति । सहजबुद्ध्येत्यर्थः । तादृशोऽर्थो वाक्यार्थ इति बोधे न बुद्धिव्यायाम इति यावत् ।

---

१ 'अर्थोऽनुपात्तः' इति क० पाठः । २ 'विशेष' इति क० पाठः ।

३ 'तत्रोत्तरकालसिद्धपदं' इति क० पाठः ।

४ 'णाऽव्यवधानमु' इति क० पाठः ।

व्यवस्था तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम् ॥ १ ॥
सम्बन्धे सति यस्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते ।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्" ॥ २ ॥ इति

वृत्तौ कृत्तद्धितान्ते यद्यपि पदान्तरयोगोऽस्ति । तथापि तत्र विशेषणविशिष्ट एवाऽर्थो विभक्त्यर्थाऽन्वयीति तावानेव तत्र तत्र प्रातिपदिकार्थो नाऽतिरिक्तः । तेन प्रातिपदिकार्थ एव प्रथमा सिद्धा । यो यमर्थं न व्यभिचरति स तस्य प्रातिपदिकार्थः । तथा चोक्तं भाष्यकृता—'अन्वयी प्रातिपदिकार्थ' इति । यो यावन्तमर्थं न व्यभिचरति, यस्य यावानेवाऽर्थोऽन्वयी तस्य तावानेव प्रातिपदिकार्थो न व्यतिरिक्त इत्युच्यते ।

अन्यदिदानीमभिधीयते—ननु यद्यन्वयी प्रातिपदिकार्थस्तदाऽसौ सर्वेषु विभक्त्यर्थेषु विद्यत इत्यङ्गीकर्त्तव्यम् । कथं नामा (न्यथा)ऽन्वयी स्यात् ? । एवं चाऽन्वयिनो वस्तुमात्रस्य प्रातिपदिकार्थस्य सर्वत्र प्रसक्तत्वात्तन्मात्राश्रया प्रथमाऽन्तरङ्गत्वात् । द्वितीयादयस्तु कारकविभक्तयः क्रियापदाऽपेक्षत्वेन बहिरङ्गाः । 'करोति, कटेन कुलमि' त्यादौ यावदेव करोत्यादि ( क्रिया ) पदं न प्रयुज्यते तावदेव कटशब्दादन्तरङ्गत्वात्प्रथमया भवितव्यम् । ( इत्यन्तरङ्गत्वात्प्रथमया १ ) सकलो विषयो व्याप्तः । क्वेदानीं द्वितीयादिभिर्भवितव्यमिति विधानमिदं २ सर्वमाकुलीभूतं वर्त्तते ।

१ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० पुस्तके नास्ति ।
२ 'विभक्तिविचारोऽयमाकुलीकृतो' इति क० पाठः ।

अत्रोच्यते १-लोकप्रयुक्तानां शब्दानामिदमन्वाख्यानम् । लोके च वाक्यमित्थं २ प्रयुज्यते, तस्य सम्पूर्णार्थप्रतिपादकत्वेन निराकाङ्क्ष-तयाऽर्थक्रियाऽर्थिनां ३ च प्रवृत्तिहेतुत्वात् । वाक्याच्चाऽपोद्धृत्य ४ पदमन्वाख्यायते । तत् कर्मादिषु कारकेष्वनभिहितेषु द्वितीयादयः कर्त्त-व्याः,( अभिहितेषु * कर्मादिषु प्रथमेति । एवं विभक्तीनां विषयविभागः । अत एवोक्तं भाष्यकृता—'अभिहितो योऽर्थः स सम्पन्नः प्रातिपदि-कार्थः' इति । अस्या ) ऽयमर्थः—सोऽर्थः कर्मादिरभिहितो यदा भवति तदाऽन्वयी प्रातिपदिकार्थो यः स विद्यमानेष्वपि कारकेषु प्रथमाया वा-च्यतया ५ सम्पन्नः, ( यदा पुनः ) सोऽर्थः कर्मादिलक्षणो नाऽभिहितो ६ भवति तदा द्वितीयादिभिस्ततो भवितव्यमिति विद्यमानोऽपि ७ प्रातिपदि-कार्थः प्रथमया ८ वाच्यो न भवति । कर्मादीनि ९ कारकाण्येव वाच्यानि भवन्ति न प्रातिपदिकार्थः । उक्तेषु कर्मादिषु प्रातिपदि-कार्थः सम्पन्नः । प्रथमया १० वाच्यत्वेनेति शेषः । इति प्रथमा-विचारः ॥ १ ॥

एवं पूर्वोक्तपरम्परया ११ प्रथमां विचार्येदानीमवसरप्राप्ता द्वितीया

---

१ 'अत्र प्रतिविधीयते' इति ग० पाठः । २ 'मेव' इति क० पाठः । ३ 'र्थिना प्रवृत्ति' इति ग० पाठः । ४ 'च्चोपो' इति क० पाठः ।
* ( ) एतदन्तर्गतः पाठः । क० पुस्तके नास्ति ।
५ 'प्रथमावाचकतया' इति क० पाठः । ६ 'अनभि' इति क० पाठः ।
७ 'मेऽपि' इति क० पाठः । ८ 'माया' इति क० पाठः ।
९ 'दिका' इति क० पाठः । १० 'माया' इति क० पाठः ।
११ एवं प्रथमा विचारिता, द्वितीयेदानीं विचार्यते इति क० पाठः ।

विचार्यते—का पुनरियं द्वितीया, 'अम् औ शसि' तीयं द्वितीया। तस्याः पुनरेतल्लक्षणम्—'कर्मणि द्वितीया' (पा०) इति। कर्मणि कारके द्वितीया विभक्तिर्भवति। अथ किं कर्म?, 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा०) ('कर्तुर्व्याप्यं कर्म' (सि० हे०) कर्तुः क्रियया यद् व्याप्तुमिष्यतेतमां[1] तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति। तच्च त्रिविधं—निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति।

तत्र निर्वर्त्यं—यदसदेवोत्पद्यते। यथा 'कटं करोति, संयोगं जनयति'। यदाह—[2]

सती वाऽविद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी।
यस्य नाऽऽश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते ॥ १ ॥

ननु 'सती नाश्रीयत' इति युक्तं[3] वक्तुम्, तस्या आश्रय-

भद्रङ्करोदया

परिणामिनीति। प्राप्यमाणविकारेत्यर्थः। निर्वर्त्यत्वेनाऽविवक्षिता प्रकृतिरिति यावत्। यथा—"काशान् कटं करोति"। नह्यत्र काशा निर्वर्त्याः। किन्तु परिणामिन एवेति कटस्य विकार्यकर्मता। काशानां तु करोते र्द्विकर्मकत्वाद् गौणकर्मता। 'कपालान् घटांश्च करोति'। अत्रो-भयोर्निर्वर्त्यत्वमेव नत्वेकस्य निर्वर्त्यत्वमपरस्य च विकार्यत्वम्। समुच्चय-बलेन निर्वर्त्यत्वेनैवोभयत्र विवक्षाऽवगमात्। कपालान् घटान् करोतीति त्वार्थिकार्थ इति ध्येयम्।

१ 'यदाप्तुमिष्टतमामि' ति क० पाठः। २ 'तदाह' इति क० पाठः।
३ 'इत्ययुक्तमुक्तमि' ति क० पाठः।

णसम्भवात् । अविद्यमानायास्त्वविद्यमानत्वादेवाऽऽश्रयणं नास्ति, तत्[1] किमर्थमविद्यमानाया अनाश्रयणमुक्तम् ? ।

अत्रोच्यते—अस्य श्लोकस्याऽयमर्थः—अविद्यमाना प्रकृतिर्यस्य तस्य निर्वर्त्यत्वम् । यथा—'संयोगं जनयति, विभागं जनयती' ति । संयोगविभागौ न कस्याश्चित्प्रकृतेर्विकारा[2]वित्यविद्यमानप्रकृतिकत्वान्निर्वर्त्यत्वं तयोः । सती वा प्रकृतिः परिणामिनी यस्य नाऽऽश्रीयत तस्य निर्वर्त्यत्वम् । यथा—' कटं करोति ' । कटस्य यद्यपि काशाः प्रकृतिभूताः सन्ति, तथापि ते[3] यदा न विवक्ष्यन्ते तदा कटस्य निर्वर्त्यत्वम्, यदा तु विवक्ष्यन्ते तदा[4] विकार्यकर्मता कटस्य, ' काशान्[5] कटं करोति ' । यदाह[6]—

यदसज्जायते सद्वा[7] जन्मना यत्प्रकाशते[8] ।
तन्निर्वर्त्यं विकार्यं च द्वेधा कर्म व्यवस्थितम् ॥ १ ॥

किञ्चित्कारणो[9]च्छेदेन यथा—' काष्ठं भस्म करोति ', किञ्चि-

## भद्रङ्करोदया

द्वेधेति । निर्वर्त्यं विकार्यं चेत्युभयं द्वेधेत्यर्थो बोध्यः । तत्र निर्वर्त्यं द्विविधमुपपादितम् । इदानीं विकार्यं द्विविधमुपपादयन्नाह-किञ्चिदिति ।

१ 'तत्कथमि' ति क०पाठः । २ 'प्रकृतिविकारौ' इति क० पाठः ।
३ 'ते' इति ग० पु० नास्ति । ४ 'तदा' इति ग० पु० नास्ति ।
५ 'काशात्' इति क० । ६ 'तदाह' इति क० । ७ पूर्वं इति ग० ।
८ 'काश्यते' इति क० । ९ 'किं च करणो' इति क० ।

दुणान्तरोत्पत्त्यां, यथा—' सुवर्णं कुण्डलं करोति '। तदुक्तम्—

प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित्काष्ठादिभस्मवत् ।
किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥ २ ॥

यत्र तु क्रियाकृता [1] विशेषाः प्रत्यक्षाऽनुमानाभ्यां नोपलभ्यन्ते, तत्प्राप्यम् । यथा—' आदित्यं पश्यति, वेद [2] मधीते '। तदुक्तम्—

क्रियाकृत [3] विशेषाणां सिद्धि र्यत्र न गम्यते ।
दर्शनादनु [4] मानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते ॥ ३ ॥

यत्र पुनर्दर्शनात्—प्रत्यक्षादनुमानाद्वा क्रियाकृतो [5] विशेषोऽवगन्तुं शक्यः, यथा—काष्ठं दहति, प्रत्यक्षगम्यः । देवदत्तं रोषयति, इति मुखे विवर्णादिकार्याऽनुमेयश्च, तद्विकार्यं न प्राप्यम् । प्राप्यं तु यत्र क्रियाप्राप्तिमात्रं न तत्कृतो विशेष इति त्रिविधं कर्म निरूपितम् ।

## भद्रङ्करोदया

प्रत्यक्षगम्य इति । दाहात्मकः क्रियाकृतो विशेष इति शेषः । अनुमेय इति । रोषरूपः क्रियाकृतो विशेष इति शेषः । तद्विकार्यमिति । काष्ठादिकं कर्मेति शेषः । विशेष इति । यथाऽऽदित्यं पश्य॰

१ ' त ' इति क० । २ ' वेदान ' इति क० ।
३ ' कृता ' इति ग० । ४ ' दुप ' इति ग० ।
५ ' क्रियाकृतविशेषा ' अवगन्तुमशक्याः, तत्प्राप्यम् । यथा—' काष्ठं दहति, प्रत्यक्षगम्यम्, देवदत्तं रोषयति ' इति मुखविवर्णत्वादिकार्याऽनुमेयं तावद्विकार्यं न प्राप्यम् । तद्धि प्रथमतः क्रियायाः प्राप्तिमात्रं न तु तद्विकृतं विशेष ' इति क० पाठः ।

इदानीमन्यन्निरूप्यते—ननु कर्म कारकम् । कारकं च क्रियानिमित्तं भवति । इह च क्रियासाध्यं कर्म । कथं तत्साध्यं[1] तस्याः साधनं भवितुमर्हति ? । तत्रेदमुच्यते—

निर्वर्त्यं कारकं नैव क्रिया तस्य हि साधिका ।
विकार्यमप्यभावेन विरुद्धं नैव कारकम् ॥ १ ॥
प्राप्यत्वात् पूर्विकाऽवस्था न सा कर्म बुधैर्मता ।
प्राप्याऽवस्था क्रिया साध्या साध्यत्वात्साधनं नहि ॥ २ ॥

## भद्रङ्करोदया

लीति शेषः । तत्साध्यमिति । क्रियया साध्यमित्यर्थः । अर्हतीति काक्वा नैवाऽर्हतीत्यर्थः । अन्योन्याश्रयापत्तेरिति भावः ।

निर्वर्त्यमिति । निर्वर्त्यं विकार्यमप्यभावेन, क्रियातः पूर्वमिति शेषः । अपिश्चाऽर्थे । नैव कारकम् । साधनमित्यर्थः । साधनं कारकमित्यभिमानः । क्रियातः पूर्वमभावे हेतुमाह—क्रियेत्यादि । यद्धि यस्य साधकं न तत्पूर्वं तत्सम्भवः, सतः साधनाऽयोगादित्याशयः । ननु यस्य क्रिया साधिका तन्न कारकमिति कुत इति चेत्तत्राह—विरुद्धमित्यादि । साध्यं कारकं चैकमेवेति विरुद्धमित्यतो नैव कारकमित्याशयः । प्राप्यत्वादिति । अग्रे सेत्युक्तेर्येति लभ्यते । साधनं नहीति । साध्यत्वसाधनत्वयो

१ साध्यमित्यस्याऽग्रे "तस्या" इत्यतः पूर्वम्—'यतः क्रियातः पूर्वं क्रियाकृतविकाराऽभावे न विकार्यम् । तस्यैवाऽसम्भवात् । विरुद्धत्वेन न कारकम् । तस्याः साधनं भवितुं नार्हती' त्यधिको ग० पाठः ।

अनयोः ( श्लोकयो ) रयमर्थः—यदसावु[1] त्पद्यते तन्निर्वर्त्यम् । तस्य [2] च क्रियाकृत एवाऽऽत्मला [3] भ इति पूर्वं तस्याऽसत्त्वम् । असतश्च [4] कथं कारकत्वम् ? । अत्रोच्येत [5]—क्रियातो लब्धात्मसत्त्वं पश्चात् क्रियां प्रति साधनं [6] भविष्यति । तथा [7] चोक्तम्—

आत्मलाभे हि भावानां कारणाऽपेक्षिता भवेत् ।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव हि ॥ १ ॥

विषमोऽय [8] मुपन्यासः । यत्र हि कारणा ( न्तरा [9] ) दुत्पद्यते, ( उत्पद्य [10] पश्चात्तेन ) कार्यान्तरं क्रियते तत्रैव [11] मुच्यते । अत्र तु तस्या एव कारकमित्येकविषयत्वेनाऽयुक्तम् । तथाहि—क्रियाधीनं कर्म, कर्माधीना क्रियेति कर्माऽभावे क्रिया नास्ति क्रियाऽभावे च [12] कर्म

## भद्रङ्करोदया

विरोधादिति भावः । आत्मलाभ इति । उत्पत्ताविस्यर्थः । अयमाशयः— अङ्कुर आत्मलाभे बीजमपेक्षते । लब्धात्मा च स स्वकार्येषु बीजेषु स्वयमेव प्रवर्त्तते । कारकमात्मलाभे क्रियामपेक्षते । लब्धात्म च क्रियासु प्रवर्त्तत इति न साध्यत्वसाधनत्वयो र्विरोध इति । तदेतदविचारिताऽभिधानमित्याह—विषम इत्यादि ।

अयुक्तमिति । एतत्कारिकास्थस्य 'विरुद्धमि' त्यस्य व्याख्यानम् ।

---

१ 'सद्दु' ग० । २ 'था' क० । ३ 'वास्य ला' क० ।
४ 'त्वाच्च' क० । ५ 'तथासति क्रियामुपलभ्या' क० ।
६ 'कारकं भवति' ग० । ७ 'यथो' ग० । ८ 'योऽय' क० ।
९-१० ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० पुस्तके नास्ति । ११ 'त्रैव' क० ।
१२ 'न कर्मेति इत्यो' क० ।

नास्तीति द्वयोरप्यभावः। इतरेतराश्रयत्वं च – कर्म क्रियामपेक्षते क्रिया च कर्मेति। विकार्यप्राप्ययोरपि विकार्यप्राप्यरूपता (क्रियासाध्या[1]), साध्यरूपत्वा[2]त्साधनं नहि। तदेवं त्रिविधेऽपि कर्मणि कारकत्वमनुप[3]पन्नमिति।

अत्रोच्यते—कर्त्तुः क्रियया यदाप्तुमुत्पादयितुं विकारयितुं[4] प्राप्तुं वेष्टतमं तत्कर्मेति। त्रिविधेऽपि कर्मणि स्वगतव्यापारोऽस्ति, तदपेक्षया कर्मणः[5] कारकत्वमविरुद्धम्। तथा च यदु[6]त्पद्यते तदुत्पाद्यते (इति[7]) उत्पत्तिक्रियाकर्तृभूतस्य कर्मभावः। तथा चोक्तम्—

स्वव्यापारेषु कर्तृत्वं सर्वत्रैवाऽस्ति कारके।

## भद्रङ्करोदया

**साध्यरूपत्वादिति। तस्याः साध्यं तस्याः एव साधनं नहीत्यर्थः। अपेक्षाभेदेन साध्यत्वसाधनत्वयोः समावेशस्य प्रागुक्तत्वादिति बोध्यम्। यदाप्तुमिति। आप्तुमित्यस्यैव व्याख्यानमुत्पादयितुमित्यादीति बोध्यम्। यद्ध्युत्पाद्यते विकार्यते प्राप्यते च तत्सर्वं क्रिययाऽऽप्यत एवेति निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं च क्रिययाऽऽप्तुमिष्टतममिति भावः।**

**स्वव्यापारेष्विति। मुख्य लवनादिक्रियासिद्धौ स्वेषां वास्यादीनां बे**

१ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० पुस्तके नास्ति। २ 'साध्यत्वात्' क०।
३ 'मुप' ग०। ४ 'विकारं प्रापयितुं वेष्ट' इति क०।
५ 'णि' क०। ६ 'यत्तावदु' क०। ७ क० पुस्तके नास्ति।

व्यापारभेदाऽपेक्षायां करणत्वादिसम्भवः ॥ १ ॥

एवं च 'कटं करोती'[1] त्यस्याऽयमर्थः—कटमुत्पद्यमानमुत्पादयतीति । तथा चोक्तम्—

करोति क्रियमाणेन न कश्चित् कर्मणा विना ।
भवत्यर्थस्य यः कर्त्ता करोतेः[2] कर्म जायते ॥ १ ॥

(कटो[3] भवत्युत्पद्यते) भवतेरुत्पत्तिवचनात् कटमुत्पद्यमानं[4] करोतीत्यर्थः । तेन भवत्यर्थस्य कर्त्तुः करोतेः[5] कर्मता । यद्ययं[6] कटोऽनुत्पत्तिधर्मा स्यात्तदा न (तं[7]) देवदत्तः कर्त्तुं शक्नुयात्[8] । यथोक्तम्—

नित्यं[9] न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता ।
न तयोः क्रियमाणत्वं खपुष्पाऽऽकाशयोरिव ॥ १ ॥

## भद्रङ्करोदया

**व्यापाराः संयोगादयस्तेषु, तद्विषय इत्यर्थः । कर्तृत्वमिति । व्यापाराश्रयत्वादिति भावः । व्यापारभेदेति । व्यापारविशेषेत्यर्थः । लवनादिमुख्यव्यापारापेक्षायामित्यर्थः । क्रियमाणेनेति । उत्पद्यमानेनेत्यर्थः । अत एवाऽग्रे व्याख्यास्यते—" यद्ययं कटोऽनुत्पत्तिधर्मा स्यादि " त्यादिनेति बोध्यम् । नित्यमिति । कदापीत्यर्थः । भवनमिति । उत्पद्यमानतेत्यर्थः । नित्यं यद्भूतं पृथिव्याद्यन्यतमं तद्भावो नित्यभूतता । नित्यत्वमिति यावत् ।**

---

१ 'कटं करोति, तस्यार्थ' इति क० । २ 'ति' क० । ३ क० पुस्तके नास्ति । ४ 'कट उत्पद्यमानः, तनुत्पादयतीत्यर्थः' इति क० । ५ 'ति' क० । ६ 'यदि' क० । ७ क० पुस्तके नास्ति । ८ 'शक्तः' इति क० । ९ 'नित्यत्वभावनायायस्याऽस्त्ये' इति क० ।

अवश्यं च १ कर्मणः स्वगतक्रियाकृतं कर्तृत्वमङ्गीकर्त्तव्यमेव २। अन्यथा कर्मवत्सूत्रवि ३ धानमनुपपन्नार्थं ४ स्यात् । तथाहि – तेन कर्मणःकर्तृभूतस्य कर्मवद्भावो विधीयते । यदि च कर्मणः स्वगता क्रिया न स्यात् तदा क्रियारहितः कथं ५ कर्त्ता स्यात्? । कर्तृत्वाभावे ६ च तस्य कर्मवद्भावविधानमनुपपन्नं स्यात् । तस्मात् कर्मवद्भावविधाना-दवसीयते–'ऽस्ति कर्मणोऽवयवक्रिये' ति । विकार्यप्राप्ययोरपि--यो विकार्यते स विकृतो भवति, यश्च प्राप्यते स प्राप्तिसहित ७ इति, तयोरपि स्वगतक्रियाऽपेक्षया कारकत्वमविरुद्धमिति ८ सिद्धं कर्मणः कारकत्वमिति विचारिता द्वितीया ॥ २ ॥

## भद्रङ्करोदया

खपुष्पस्य नित्यं न भवनम्, आकाशस्य च नित्यभूततेति बोध्यम् ।

अन्यथेति । कर्मणः स्वगतक्रियाकृतकर्तृत्वाऽस्वीकार इत्यर्थः । कर्मवदिति । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रिय' इति पा० सूत्रम् । 'एकधातौ कर्मक्रियैकाऽकर्मक्रिये' इति सि० हे० सूत्रम् । भावयन्नाह—तथाही-त्यादिना । कर्मणस्तण्डुलादेः सौकर्यातिशयादिना तद्गतक्रियाया एव पचा-दिधात्वर्थतया विवक्षणात्तदाश्रयस्य कर्तृभूतस्येत्याशयः । कथमिति काक्वा नैव स्यादित्यर्थः । क्रियाश्रयस्यैव कर्तृत्वादिति बोध्यम् । अवि-रुद्धमिति । एकक्रियापेक्षयैवैकत्र साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधात्, अत्र च स्वगतक्रियापेक्षया कारकत्वं मुख्यक्रियापेक्षया च साधनत्वमित्यविरोध इति

१ क० पुस्तके नास्ति । २ 'मङ्गीकरणीय' इति ग० । ३ 'विधान' क० नास्ति । ४ 'न्नं' ग० । ५ 'कर्त्ता न स्यात्' क० । ६ 'कर्त्तुरभावे तस्य' क० । ७ 'प्तिं सहते' इति क० । ८ 'इति' क० नास्ति ।

तृतीयेदानीमवसरप्राप्ता विचार्यते—का पुनरियं तृतीया?, 'टाभ्याम् भिस्' इति। तस्याः पुनरिदं १ लक्षणम्—कर्तृकरणयोस्तृतीये' ति (पा०) ("हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे" इति सि० हे०) अस्यायमर्थः—कर्त्तरि करणे च कारके तृतीया विभक्तिर्भवति २। अथाऽत्र कः कर्त्ता? स्वतन्त्रःकर्त्ता'। (किमिदं स्वातन्त्र्यम्?, प्राधान्यमि ३ ति ब्रूमः) । तथा च वृत्तिकारः—अगुणभूतो ४ योऽर्थः क्रियासिद्धौ प्राधान्येन विवक्षितः (स च ५ प्रधानकर्त्तेति') ।

ननु सामग्र्यधीना हि क्रियासिद्धिः, एकस्या अप्यभावे न भवति ६। ततश्च सर्वेषामेव कारकाणां क्रियासिद्धावन्वयव्यतिरेकाभ्यां ७ तुल्यत्वात् कथमेकस्य प्राधान्यमितरस्य ८ गुणीभाव? इति। उच्यते-

## भद्रङ्करोदया

'विरुद्धं नैव कारकमि' त्यादि समाहितमिति।

अगुणभूत इति। अस्यैव व्याख्यानं क्रियासिद्धावित्यादिरिति बोध्यम्।। अन्यथा गुणीभूतत्वात् प्रयोज्यस्य प्रयोजकसन्निधाने कर्तृत्वं न स्यात्। क्रियासिद्धौ प्राधान्येन तु प्रयोज्योऽपि विवक्षित इति तस्याऽपि कर्तृत्वम्। तदुक्तं भाष्ये—"प्रयोजकव्यापारे सत्यपि स्वार्थदर्शनादिच्छायां सत्यां करोती" त्यादि विस्तरेणोपपादितं कारकविवरणभद्रङ्करोदयायामिति तत्रैव द्रष्टव्यम्। प्रधानकर्त्तेति। प्रधानत्वात्कर्त्तेत्यर्थः। सामान्यतः कर्त्तुः प्रस्तुतत्वात्, कर्त्तुः प्रधानगौणभेदाऽभावाच्चेति बोध्यम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति।

---

१ 'तल्लक्षणं चेदम्' क०। २ 'क्तिः स्यात्' क०। ३ () क० नास्ति। ४ 'योऽगुणरूपोऽर्थ' इति क०। ५ () क० नास्ति। ६ 'सिद्ध्यति' क०। ७ 'योस्तुल्य' इति क०। ८ 'तु गौणी' इति क०

करणादीनां क्रियासिद्धौ कर्तृनियुक्तानामेव[१] कर्त्ता प्रवृत्तिः, तु[२] स्वसामर्थ्येनैव क्रियासिद्धौ प्रवर्त्तते। तेनाऽस्य[३] प्राधान्यम्, तदधीन[४]प्रवृत्तित्वात्करणादीनां गुणीभाव इति।

यद्येवं देवदत्तोऽस्ति विद्यते[५] वेत्यादौ देवदत्तस्य कर्तृसंज्ञा न स्यात्[६], तत्प्रयोज्यानां[७] करणादीनामभावात्[८]। इहैव स्यात्—देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामो[९] दनं पचतीति। ततश्चाऽव्यापकं लक्षणं स्यात्। तस्मादन्यथा प्राधान्यं प्रतिविधीयते—धातूक्त[१०] क्रियावत्त्वं प्राधान्यम्। यदीयो[११] व्यापारो धातुनोच्यते स च[१२] प्रधानकर्त्तेति। तथा चोक्तम्—

भद्रङ्करोदया

**सामग्र्यधीनेत्यादिनाऽन्वयव्यतिरेकौ भाविताविति बोध्यम्।**

एवमिति। प्राधान्यस्य कर्तृत्व इत्यर्थः। करणादीनामभावादिति। **अयंभावः— प्राधान्यस्य सनिरूपकत्वात्तन्निरूपकाणां करणादीनां गौणानामभावे प्राधान्यमपि न कस्याऽपीति तादृशस्थले देवदत्तोऽस्तीत्यादौ कर्तृसंज्ञा न प्राप्नोतीति। अव्यापकमिति। लक्षणस्याऽव्याप्तिरित्यर्थः। लक्ष्ये लक्षणाऽगमनादिति बोध्यम्। अन्यथेति। पूर्वनिरुक्तवैलक्षण्येनेत्यर्थः। प्रतिविधीयते—निरुच्यते। धातूक्तेत्यादि विवृण्वन्नाह—यदीय**

---

१ 'नाम्र' क०। २ 'तु' क० नास्ति। ३ 'तेन तस्य' इति क०। ४ 'प्र' इति क० नास्ति। ५ 'वेत्तीत्या' इति ग०। ६ 'सिद्ध्यति' क०। भवति ग०। ७ 'जका' क०। ८ 'सम्भवात्' ग०। ९ 'स्वल्पमो' क०। १० 'धात्वन्तरक्रिया त्वप्रधाना'। इति क०। ११ 'यो' क०। १२ 'तत्प्रधानव्यापाराश्रयः कर्त्तेति' क०

धातुनोक्तक्रिये[1] नित्यं कारके कर्तृतेष्यते ।
सर्वेषामेव भावानां विद्यते कर्तृलक्षणम् ॥ १ ॥ इति ।

ननु यत्प्रधानं[2] तदुत्कृष्टमेवेति कर्तुः करणसंज्ञया भवि-[3]तव्यम् । एकसंज्ञाऽधिकारे संज्ञाद्वयं न[4] भविष्यतीति चेत्, न[5] । क्रमेण स्यात् । तदुक्तम्—

भद्रङ्करोदया

इति । धातुनेति । तथा च प्रकृतधातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्त्तेति निष्कर्षः । अत एव कारकाणां सर्वेषामेव यत्किञ्चिद्धातूक्तक्रियावत्त्वेऽपि न क्षतिः । स च तादृशः प्रधानमेवेति प्रधानकर्त्तेत्युक्तमिति बोध्यम् । एवञ्च देवदत्तोऽस्तीत्यादावुक्तप्राधान्येऽविवादाद्देवदत्तादेः कर्तृत्वं समाहितम् ।

उत्कृष्टमेवेति । साधकतममित्यर्थः । भाव्यमिति । 'साधकतमं करणमि' तिसूत्रादित्याशयः । एकसंज्ञाऽधिकार इत्यादि । अयंभावः—'आ कडारादेका संज्ञा' इति पा० सूत्रम् । कडारपदघटितसूत्रात् 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया या पराऽनवकाशा चेति तदर्थः । कारकप्रकरणं चाऽऽकडारीयम् । एवञ्चैकस्यैकैव संज्ञा न संज्ञाद्वयमिति । क्रमेणेति । पर्यायेणेत्यर्थः । न तु पौर्वापर्येण । पूर्वं प्रवृत्तसंज्ञाबलेन जाताया विभक्तेः पश्चाद्भाविना संज्ञासहस्रेणाऽप्यनुन्मूलनीयत्वात् फलाऽभावादेव पश्चात्संज्ञान्तरस्याऽप्रवृत्तेः, संज्ञायाः फलवत्त्वनियमात् । तस्मादुभयोः प्राप्तिसत्त्वाद् युगपदाकडारीयत्वात्पौर्वापर्येण च फलाऽ-

---

१ 'या' ग० । २ 'यत्' क० नास्ति । ३ 'भाव्यम्' क० । ४ 'न' ग० नास्ति । ५ 'न' क० नास्ति ।

उत्कृष्टं करणं चाऽऽहु[१]स्तथा कर्तुः स्वतन्त्रताम्[२] ।
उत्कृष्टस्य स्वतन्त्रस्य विशेषो वद कीदृशः ? ॥ १ ॥

'कीदृशो विशेष' इति[३] प्रत्यवमृश्य[४] वदेति क्रियासम्बन्धे क्रियमाणे विशेषाद्[५] द्वितीया न भवति[६] । समुदायस्य[७] कर्मत्वात् । समुदायश्च वाक्यम् । न च वाक्याद् विभक्तिर्भवति, तस्याऽप्रातिपदिकत्वात् ।

## भद्रङ्करोदया

भावात्प्रवृत्त्यभावेऽपि प्राप्तिबलात् पर्यायेण संज्ञाद्वयापत्तेः । न चैवं करणत्वादेव तृतीयासिद्धौ 'कर्तृकरणयोस्तृतीये' त्यनुक्ते कर्त्तरि तृतीयाविधानाऽनुपपत्त्या कर्तुर्न करणत्वमिति ज्ञाप्यत इति वाच्यम् । अनुक्ते कर्त्तरि तृतीयैवेति नियमार्थतया तत्सार्थक्यादिति ।

ननु श्लोके 'विशेषो वद कीदृश' इत्यसङ्गतम् । वदतिक्रिया-जन्यफलाश्रयतया विशेषपदाद् द्वितीयाया औचित्यादित्याशङ्कां समादधदाह—कीदृश इत्यादिना । विशेषादिति । विशेषपदादित्यर्थः । तस्याऽप्रातिपदिकत्वादिति । "कृत्तद्धितसमासाश्चे" ति समासग्रहणकृतनियमेन वाक्यस्य व्यावर्त्तनात् । 'अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम' इति सि० हे० वाक्यपर्युदासाच्चेति भावः । न च 'कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपी' ति भाष्यानुसारेण प्रत्येकं कर्मतया वाक्यस्य नामसंज्ञाऽभावेऽपि प्रत्येकं नामसंज्ञायां द्वितीया दुर्वारैवेति वाच्यम् । विशेषस्याऽध्याहृताऽस्तिक्रियान्व-

---

१ 'हु' ग० । २ 'ता' क० । ३ इतोऽग्रे 'वद इति विमृश्य वदेति' क० पाठः । ४ 'प्रत्यवमृष्टः सन्नि' ति ग० । ५ 'विशेषा' क० । ६ 'स्यात्' क० । ७ 'स्याऽक' ग० ।

अत्रोच्यते—यदि नाम करणमुत्कृष्टं तथापि प्रधानं न भवति, तद्व्यापारस्य [१] धातुनाऽनभिधानात् । यदा च करणव्यापार एव धातुनोच्यते तदा तस्य [२] प्राधान्यात्कर्तृत्वमेव न करणत्वम्, यथा–'सध्वसिश्छिनत्ती [३]' ति निरूपितः कर्त्ता ।

( करणमिदानीं [१] निरूप्यते । ) अथ ( किं [२] ) करणम्?–'साधकतमं करणम्' ( पा, सि० हे० ) क्रियासिद्धौ यत्प्रकृष्टोपकारकत्वेन विवक्षितं तत्साधकतमं ( करणम् [३] । ) तदेतदपेशलं [४] शीलशालिनां मनसि प्रतिभासते । तथाहि–समग्र्यधीना ( हि [५] )

## भद्रङ्करोदया

येनेतरार्थे निराकाङ्क्षत्वेन वदतिक्रियायामनन्वयात्कर्मत्वाऽभावाद्द्वितीयाया अनवसरात् ।

अनभिधानादिति । ननु कर्तुःकरणसंज्ञाऽऽपादिता, परिहृता च करणस्य कर्तृसंज्ञेत्यन्यद् भुक्तमन्यद्वान्तमिति चेत् । आपातत एवं प्रतिभाति । वस्तुतस्तु उत्कृष्टं प्रधानं न भवतीत्युक्त्या उत्कर्षप्राधान्ययोर्भेदप्रदर्शनमुखेन कर्तुः करणसंज्ञाऽपि परिहृतैव । यथा हि करणस्य प्राधान्याऽभावान्न कर्तृसंज्ञा । तथा कर्तुरप्युत्कर्षाऽभावान्न करणसंज्ञा । उत्कर्षश्च तद्व्यापाराऽव्यवधानेन क्रियापरिनिष्पादकत्वेन विवक्षितत्वम्, तच्च न कर्त्तुरिति दिक् ।

तदेतदिति । एकस्य प्रकृष्टोपकारकत्वेन विवक्षितत्वमित्यर्थः । अपेशलममनोज्ञम् । शीलशालिनां दाक्षिण्यवताम्, सर्वत्र कारकेषु समभा-

---

१ 'तद्वयोरस्ये' ति क० । २ 'तस्यैव' ग० । ३ 'साधुना छिन्नम् । अत्र छिनत्तिनिरूपितः कर्त्तेति क० । १–२–३–५–८ ( ) ग० नास्ति । ४ 'तदेतत्पेशलशीलशालिनां मनसि न प्रतिभासते' इति क० ।

क्रियासिद्धिरेकस्याऽप्यभावे [६] न भवति । तदेकस्या [७] मनेकसाधनसाध्यायां (क्रियायां [८]) कोऽस्याऽतिशयो येन करणं साधकतमं स्यान्नाऽन्यानि [९] ? ।

उच्यते [१०]—यदि नाम करणस्याऽतिशयो [११] नास्ति, तथाविवक्षितत्वाद् भविष्यति ।

किं सतो विवक्षाऽथाऽसतः ? । यदि [१२] सतो विवक्षा, तदा प्रकर्षस्य सत्त्वं प्रदर्श्यताम् [१३] । असतो विवक्षायामर्थाऽसंस्पर्शित्वं शब्दस्य स्यात् । विवक्षात एवाऽतिशयसम्बन्धसिद्धिरिति चेत्, न ।

## भद्रङ्करोदया

वानामित्यर्थः । अतिशय इति । प्रकर्ष इत्यर्थः । तथाविवक्षितत्वादिति । प्रकृष्टोपकारकत्वेन विवक्षितत्वादित्यर्थः । सत इति । प्रकर्षस्येति शेषः । प्रदर्श्यतामिति । प्रकर्षोऽस्तीत्युपपाद्यतामित्यर्थः । सामग्र्यधीनेत्याद्युक्तरीत्या तत्र प्रकर्षो नास्त्येवेति हृदयम् । अर्थाऽसंस्पर्शित्वमिति । योऽतिशयोऽर्थो विवक्षितस्तत्सम्बन्ध एव शब्दस्य नास्ति, करणपदवाच्यत्वेनेष्टे पदार्थे विवक्षितस्याऽर्थस्यातिशयरूपधर्मस्याऽसत्त्वात् । नह्यसन् सम्बन्धमर्हतीति । तदेवमतिशयविशिष्टोऽर्थः करणपदप्रतिपाद्यो न स्यादिति भावः । नन्वसतोऽर्थस्य विवक्षया सिद्धिरिष्टा चेत्, तदुप-

---

६ 'क्रिया' इत्यनंतरं 'सिद्धि' इत्यतःप्राक्त्वाऽस्ति, तथपि विवक्षितत्वाद् भविष्यति, किं सतोऽ' इत्यधिकः क० पाठः । ७ 'तदस्या' इति क० । ९ 'स्यादिति क० । १० 'अत्रोच्यते' क० । ११ 'करणस्याऽस्ति' क० । १२ 'तत्र यदि' क० । १३ 'दर्श्यताम्' क० ।

एवं हि वन्ध्याया अपि सुतेन सम्बन्धः स्यात् ।

किञ्च विवक्षाशब्दो( ऽयं १ ) वक्तुरिच्छायां वर्त्तते । इच्छा च पुरुषस्य पदार्थाऽनुरोधिनी न ( तु २ ) पुरुषेच्छाऽनु ३ रोधी पदार्थः । यदुक्तम् ४—

" उत्कृष्टं ५ नैव करणमन्यैस्तुल्यत्वदर्शनात् ।
प्रकर्षमित्थम्भूतस्य वदेत्कोऽत्र ६ ह्यबालिश " ॥ १ ॥ इति ।

## भद्रङ्करोदया

पत्तये तादृशाऽर्थसम्बन्धोऽपि विवक्षयैवेष्टव्य एवेति मनसिकृत्वाऽऽह–विवक्षात एवेत्यादि ।

ननु वन्ध्यादेरसताऽप्यर्थेन सुतादिना बौद्धोऽभिप्रेत एव सम्बन्धः, अन्यथाऽसामर्थ्यात्समासाऽभावात्—

" एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।
कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः " ॥ १ ॥

इत्याद्युक्ति र्न सम्भवेदित्यपरितोषादाह–किञ्चेत्यादिना । पदार्थ इति । ततश्च सतः सम्बद्धस्यैव चाऽर्थस्य विवक्षा सम्भवति न त्वसतः सतो वाऽसम्बद्धस्य । एवञ्चाऽसतोऽसम्बद्धस्य च प्रकर्षस्य विवक्षाऽसम्भवात्करणस्य स सुदुर्लभ इति भावः । तत्र प्राचः सम्वादमाह–उत्कृष्टमित्यादिना ।

---

१–२ ( ) क० नास्ति । ३ 'षाऽनु' क० । ४ 'तदुक्तम्' क० ५ 'उत्कृष्टं करणं नैवाऽन्यैस्तु तुल्यदर्शनात् । कर्तं नेच्छाममावस्य' इति क० । ६ "कोहि कुर्यादबालिशः' इति क० । ७ 'को वदेदिह बालिशः" इति म० ।

सत्यम्[१] । करणप्रयोजकत्व[२] लक्षण:[३] कर्तृव्यापार इति करणति[४] रोहित:[५] कर्ता क्रियासिद्धौ व्यापिपर्ति । करणं पुनरव्यवधानेन क्रियां निर्वर्तयति । अव्यवधानेन क्रियानिर्वर्त्तकत्वमति[६] शय: करणस्येति साधितोऽतिशय: करणस्य । य[७] दुक्तम्—

क्रियाया: परिनिष्पत्ति र्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा यत्र[८] करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ १ ॥

( एवं च[९] सत एव प्रकर्षस्य विवक्षा नाऽसत:, अव्यवधानेन क्रियानिर्वर्त्तकत्वस्य विद्यमानत्वात् ।

ननु यदि करणव्यवहित: कर्त्ता क्रियायां व्याप्रियते तदा कथमसौ प्रधानम् । उच्यते—तदधीनवृत्तिकत्वात्करणस्य । नाऽस्त्येव तत्करणं यत्कर्त्रधीनत्वं ) नाऽपेक्षते[१०] । अत: पराऽऽयत्तवृत्तित्वात्

## भद्रङ्करोदया

**करणप्रयोजकत्वलक्षण इति । तदुक्तम्—" नियोक्ता परतन्त्राणां स कर्त्ता नाम कारकमि" ति ध्येयम् । करणतिरोहित इति । करणव्यवहित इत्यर्थ: । कथमसौ प्रधानमिति । अव्यवधानेन क्रियानिर्वर्त्तकत्वं**

---

१ 'अत्रोच्यते' क० । २ 'कसत्त्व' क० । ३ 'णक' क० । ४ 'णाति' क० । ५ 'तकर्ता' क० । ६ 'कत्व' इत्यतोऽग्रे 'यदुक्तमित्यत: प्राक् 'मित्यायातमि' त्येव पाठ: क० पुस्तके । ७ 'त' क० । ८ 'तत्र करणत्वं तदा' इति ग० । ९ ( ) एतदन्तर्गत: पाठ क० पुस्तके नास्ति । १० 'विवक्ष्यते' क० ।

करणमप्रधानम् । कर्त्ता त्वितरनिरपेक्षः स्वसामर्थ्येन प्रवर्त्तत इति (प्रधानम् [१])। धातूक्त [२] क्रियावत्त्वाच्च कर्त्तुः प्राधान्यम् । नहि करणक्रिया धातुनोपादीयते । यदा चोपादीयते तदा करणं कर्तृ भवेत् । (यथा [३]) साध्वसिश्छिनत्ति । तदुक्तं मण्डन [४]मिश्रेण—

करणं खलु सर्वत्र कर्तृव्यापारगोचरः [५] ।
तिरोदधाति कर्त्तारं प्राधान्यं तन्निबन्धनम् ॥ १ ॥
निरूपितं करणम् । विचारिता [६] तृतीया ॥ २ ॥

इदानीं [७] चतुर्थी निरूप्यते । का पुनरियं चतुर्थी ? 'ङे भ्याम् भ्यस्' इति । तस्या ह्युक्तमेत [८] लक्षणम्—'चतुर्थी सम्प्रदाने' (पा०) इति । किं [९] तत्सम्प्रदानम् ?—'कर्मणा यमभिप्रैति तत्

## भद्रङ्करोदया

हि प्राधान्यम्, तच्चोक्तरीत्या न कर्तुरित्यभिमानः । धातूक्तेति । अस्य प्रकृतेत्यादिः । उपादीयते इति । उच्यते इत्यर्थः । कर्तृव्यापारगोचर इति । कर्तृप्रयोज्य इत्यर्थः । तिरोदधाति व्यवदधाति । प्राधान्यमिति । कर्तुरिति लभ्यते, सामीप्यात् ।

---

१ क० नास्ति । 'प्राधान्यम्' ग० । २ 'प्रधानधातूपात्तक्रियत्वाच्च' क० । ३ क० नास्ति । ४ 'मदन' क० । ५ 'रम्' क० । ६ 'अतःकरणे निरूपिता' क० । ७ 'इदानीमवसरप्राप्तं चतुर्थीनिरूपणम्' ग० । ८ 'पुनरिद' ग० । ९ 'पुनरिदं' क० ।

( कारकं ) सम्प्रदानम् ( पा० ) (" कर्माऽभिप्रेयः सम्प्रदानम् ।" सि० हे० ') । ( अस्याऽयमर्थः १–कर्मणा करणभूतेन कर्त्ता यमर्थमभिप्रैति तत्सम्प्रदानम् । ) तच्च २ त्रिविधम् । ( प्रेरकम्,३ अनुमन्तृकम्, अनिराकर्तृकं च । तत्र ) प्रेरकं यथा-ब्राह्मणाय गां ददाति । स ( ब्राह्मणो ४) हि पूर्वं मह्यं ( गां ५) देहीति प्रेरयतीति ६ ( स ७) तेन ( प्रेरितो ८) ददाति । अनुमन्तृ( कं ९) यथा– उपाध्यायाय गां ददाति । उपाध्यायो हि न पूर्वं गां प्रार्थितवान् । अथ ( च १० ) दीयमानां ११ गामनुमन्यते–' भद्रं कृतमि ' ति । अनिराकर्तृ ( कं १२ ) यथा–देवाय १३ बलिं दत्ते । नाऽत्र देवः १४ प्रार्थयते नाऽप्यनुमन्यते । य १५ दुक्तम् —

त्यागाङ्ग १६ कर्मणा व्याप्तं प्रेरकं चाऽनुमन्तृ च १७ ।
अनिराकर्तृ चेत्युक्तं सम्प्रदानं त्रिधा १८ पुनः ॥ १ ॥

अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् सम्यक् प्रकर्षेण दीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम् । ( तदेदमसमञ्जसम्,१९ दानाऽसम्भवात् । ) तथाहि–

---

१ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० नास्ति । २ ' तत्त्रेधा ' ग० ३ ( ) एतदन्तर्गतः पाठो ग० नास्ति । ४ क० नास्ति । ५ क० नास्ति । ६ ' ति ' क० । ७ क० नास्ति । ८ क० नास्ति । ९ ग० नास्ति । १० क० नास्ति । ११ ' नगा ' ग० । १२ ग० नास्ति । १३ ' आदित्याय पुष्पं ददाति ' क० । १४ ' आदित्यः ' क० । १५ ' त ' क० । १६ ' त्यागकर्मण्यभिव्याप्य ' क० । १७ ' वा ' क० । १८ ' प्रकीर्तितम् ' क० । १९ ( ) एतदन्तर्गतःपाठः क० नास्ति ।

दानं नाम स्वस्वत्वपरित्यागः[१] परस्वत्वापादनं चेति[२]। तत्र किं स्वस्वत्वे विद्यमाने परस्वत्वमापाद्यते, (असति[३] वा।) सति[४] चेत्, तन्न। स्वस्वत्वपरस्वत्वयोर्विरोधात्। स्वस्वत्वं परित्यज्य परस्वत्वमापादयतीति चेत्, (न।[५]) यत् किल येन परित्यक्तं तत्तदीयं[६] न भवति। अत औदासीन्यात्कथं परस्वत्वमापादयितुमुत्सहते? । तदुक्तम्—

"स्वस्वत्वे विद्यमाने तु परस्वत्वं न विद्यते।
त्यज्यते[७] सम्प्रदानं चेदौदासीन्यान्न सिद्ध्यति" ॥ १ ॥

अत्रोच्यते—स्वस्वत्वपरित्यागोपक्रमः परस्वत्वाऽऽपादनपर्यवसानः समुदा (यो ददात्यर्थः[८])। स्वस्वत्वं परित्यजन् परस्वत्वमापादयतीति योऽर्थः स एव ददातिशब्दस्य। यदि[९] स्वस्वत्वपरित्यागमात्रं

## भद्रङ्करोदया

औदासीन्यादिति। अयंभावः—इह किञ्चिद्वस्तु स्वकीयं किञ्चित्परकीयं किञ्चिच्चोदासीनमिति त्रिधा वस्तुस्थितिः। एवं च यत्र स्वस्वत्वं तत्र न परस्वत्वमिति स्वस्वत्वे परित्यक्ते तदुदासीनम्। तस्मिंश्च न परस्वत्वमापादयितुं शक्यम्। नहि यन्न स्वं तत्कस्मैचिद्देयमिति। सिद्ध्यतीति। त्यज्यते इत्यत्र स्वस्वत्वमित्यर्थबलाद्विभक्तिविपरिणामेन सम्ब-

---

१ 'गम' क०। २ क० नास्ति। ३ क० नास्ति।
४ 'अथ विद्यमाने तावन्न सम्भवति' क०। ५ क० नास्ति।
६ 'तदेव यन्न' क०। ७ 'परित्यज्य सम्प्रदानमौ' इति क०।
८ 'दायार्थ' क०। ९ यदीत्यनन्तरं 'न पुनः' इत्यधिकः क०।

परस्वत्वाऽऽपादनमात्रं वा ददात्य १ र्थः स्या २ त्तदोक्त ३ दोषः। यदा पुनः समुदायो ददात्यर्थ ४ स्तदा न किञ्चिद् दुष्यतीति सर्वमनवद्यम्। इति चतुर्थी विचारिता ५ ।

इदानीं ६ पञ्चमी निरूप्यते। का पुनरियं पञ्चमी? "ङसि-भ्याम् भ्यस्" इति पञ्चमी। तस्याः पुनरेतल्लक्षणम्—"अपादाने पञ्चमी" (पा०) ति। (पञ्चम्यपादाने सि० हे०) अपादाने कारके पञ्चमी भवति ७)। किं पुनरेतदपा ८ दानम्? "ध्रुवमपायेऽ-पादानम्" (पा०) ("अपायेऽवधिरपादानम्" सि० हे०)। अस्याऽयमर्थः—(ध्रुवं ९ यदपाययुक्तम्=अपाये) साध्ये यदवधिभूतं तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति।

यदि (च १०) ध्रुवमचलं ११ (यत् १२) तदपादानम्। एवं

भद्रङ्करोदया

ध्यते। ततश्च-स्वस्वत्वं त्यज्यते चेदौदासीन्यात्सम्प्रदानं न सिद्ध्यती-त्यन्वयः।

न किञ्चिद्दुष्यतीति। स्वस्वत्वत्यागपरस्वत्वापादनयोः पौर्वापर्ये एव मध्ये औदासीन्याद् ददातेरुक्तप्रकारेणैकांशमात्राऽर्थकत्वे वा दानाऽसम्भवः। समुदायार्थत्वे तु यौगपद्यमिति न कश्चिद्दोष इत्याशयः। अत्रत्यो विशेषो

१ 'तीत्य' ग०। २ 'स्यात्' क० नास्ति। ३ 'तदस्योक्त' क०। ४ 'तीत्य' ग०। ५ 'चतुर्थी समाप्ता' ग०। ६ 'अथ पञ्चमी' ग०। ७-९-१४-२४ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः ग० नास्ति। ८ 'नरपा' ग०। १०-१२ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० नास्ति। ११ 'चलितं' क०।

तर्हि 'धावतोऽश्वात्पतितो देवदत्त (इत्य १३) त्राऽपादानसंज्ञा न स्याद् (धावतोऽ १४) श्वस्याऽध्रुवत्वात् । अत्रोच्यते १५—अपायविषयं यद्-विचलत्वम् १६=अपाययुक्ते १७ गच्छत्यगमनं १८ पतत्यपतनं १९ तदिह ध्रुव (त्व २०) म् । तच्चाऽश्वस्य २१ विद्यत एव । तथाहि—देवदत्ते पतति सत्यश्वो न पतति । यदि चाऽश्वः पतेत्तदाऽश्वदेवदत्तौ पतिताविति स्यात् । तस्माद् देवदत्ते पतत्यपतनं=(तत्पाते २२ नाऽनुप्रवेशो)ऽश्वस्याऽस्ति (इत्यौदासीन्यमेव २३ ।) (तेन प्रवेयाऽश्वादीनामेव २४ क्रियाया ध्रुवत्वम् ।) तदुक्तम्—

"अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।
ध्रुवमेवाऽतदावेशात्त २५ दपादानमुच्यते ॥ १ ॥
पततो २६ ध्रुव एवाऽश्वो यस्मादश्वात्पतत्यसौ २७ ।
तस्या २८ ऽप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमुच्यते ॥ २ ॥

## भद्रङ्करोदया

**विचारः कारकविवरणभद्रङ्करोदयातोऽवगन्तव्यः ।**

अतदावेशादिति । **अपायजनकक्रियाऽनाश्रयत्वादित्यर्थः ।**

---

१३-१४ 'त्तोऽत्र' क० । १५ 'उच्यते' क० । १६ 'चलित' क० । १७ 'क्त' क० । १८ 'च्छद' क० । १९ 'तत' क० । २० 'त्व' क० नाऽस्ति । २१ 'स्व' क० । २२ एतदन्तर्गतः पाठः क० नास्ति । २३ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० ग० नास्ति । औचित्याद् योजितम् । २४ ( ) एतदन्तर्गतः पाठो ग० नास्ति । २५ 'दपादानं प्रकीर्तितम्' ग० । २६ 'पतिते ध्रुवमेवाऽश्वो' ग० । २७ 'स्तानु' ग० । २८ 'एष पादः ग० नस्ति ।

तस्य १ पातविवक्षायां जायते २ कारकान्तरम् ।"

यद्येवमपसरतो मेषान्मेषोऽपसरतीति द्वयोरप्यपसरणेन सम्बन्धा ३-त्कथमेकस्य ध्रुवत्वम्? । उच्यते—आश्रय ४ भेदेनाऽपसरणं भिद्यते । तत्र यदेकस्याऽपसरणं तत्रेतरस्या ५ ऽननुप्रवेशा ६ त्प्रकृते ध्रुवत्वमेव । यदि पुनरनुप्रवेशः स्यात्तदा 'मेषावपसरत' इति स्यात् ।

तदयमर्थः—अपाये=विश्लेषे साध्ये तत्साधनभूतासु ७ क्रियासु ८ यदुदासीनं=यन्नाऽनु ९ प्रविशति चलद्वाऽचलद्वा भवति तद्ध्रुवमेवाऽतदावेशात्=( क्रियायामननुप्रवेशात् १० । )

## भद्रङ्करोदया

कारकान्तरमिति । 'कुड्यं पतती' त्यादौ कुड्यादेः पातविवक्षायामपायजनकक्रियाश्रयत्वात्तस्य नाऽपादानत्वं किन्तु कर्तृत्वादिकमेवेत्याशयः । कुड्यात्पततोऽश्वात्पततीत्यादौ तु प्रधानदेवदत्तादिपातक्रियानिमित्तस्यापादानत्वस्यैव प्राधान्यम् । अत एवोक्तं चलं वा यदि वाऽचलमिति । तदनुरोधा-पञ्चम्येवेति बोध्यम् ।

तदयमर्थ इति । 'अपाये यदुदासीनमि' त्यादिपद्यस्येति बोध्यम् । यन्नाऽनुप्रविशतीति । क्रियाजन्यफलाश्रयो न भवतीत्यर्थः ।

---

१ 'अश्व' क० । २ 'जातं' क० । ३ 'द्धत्वा' क० । ४ 'मेष' क० । ५ 'स्यनानु' क० । ६ 'शः' क० । ७ 'स्तु' क० । ८ 'स्तद्ययु' क० । 'वाऽनुप्र' क० । १० ( ) एतदन्तर्गतः पाठो ग० नास्ति ।

ननु यदि क्रियायामुदासीनं ध्रुवं १ न( २ तर्हि) कारकम् । कारकं हि घटनात्मकं( भवति ३ । ) न चो ४ दासीनं घटते । ( घटते ५ ) चेत्कथमुदासीनम् ? । तस्मात्कारकाऽधिकारे कारकस्याऽपादानसंज्ञा विधीयमाना ध्रुवस्या ६ऽकारकत्वान्न ७ सिद्ध्यति ।

( यथोक्तम् ८—

" ध्रुवं न कारकं मन्ये नोपकारगतो यतः ।
अपायाऽऽधारभूतोऽसौ क्रियेति च न कथ्यते " ) ।

उच्यते९— सर्वकारकाणां स्वगतक्रियाद्वारेणैव प्रधानक्रियाया

## भद्रङ्करोदया

क्रियायामुदासीनमिति । क्रियासिद्धावुदासीनमित्यर्थः । निर्व्यापारत्वमौदासीन्यमित्यभिमानः । घटनात्मकमिति । सव्यापार इत्यर्थः । कथमिति । काक्वा नोदासीनमित्यर्थः । निर्व्यापारत्वाऽभावादिति भावः । तस्मादिति । निर्व्यापारत्वादित्यर्थः । नोपकारगत इति । क्रियासिद्धौ नोपकरोति—न सव्यापार इत्यर्थः । ननु तर्हि कीदृशं ध्रुवमित्याकाङ्क्षायामाह-अपायेत्यादि । अपायाऽऽधारतामात्रं ध्रुवस्येत्यर्थः । कथ्यते इति । अपायाऽऽधारता च क्रियेत्येवं न कथ्यते—व्यपदिश्यते । घटनं हि क्रियेति प्राक्सूचितत्वात् । एवं च निर्व्यापारत्वान्न ध्रुवं कारकमित्याशयः ।

---

१ 'तद्ध्रुवं' क० । २ क० नास्ति । ४ 'च तदु' ग० । ५ ( ) क० नास्ति । ६ 'स्य का' क० । ७ 'त्वं न सिद्ध्यति' क० । 'त्वान्नापादानत्वम्' ग० । ३-८ ( ) एतदन्तर्गतः पाठो ग० नास्ति । ९ 'सत्यम्' ग० पाठः ।

निमित्तभावः । यथा (पाके २) ज्वलनादिद्वारेण ३ काष्ठादीनां निमित्तभावः । तथेहाऽपि ग्रामोऽवतिष्ठते । अवतिष्ठमान (एव ४ ग्रामो) देवदत्ता ५ गमनं प्रति निमित्ततां ६ प्रतिपद्यते (इति भवति ७ कारकम् ।) " यदि ८ ग्रामोऽप्यागच्छेत्तदाऽपा ९ यो न निष्प १० द्येत " इति ११ ब्रुवता न्यासकारेणाऽऽपि १२ तस्या १३ ऽनागमानमेव देवद-त्ताऽऽगमनं १४ प्रति निमित्तमिति दर्शितम् । कस्यचित्कार्यस्य क्रिय-

## भद्रङ्करोदया

दर्शितमिति । एवञ्चौदासीन्यं न निर्व्यापारत्वम्, किन्तु विश्लेष-जनकक्रियानाश्रयत्वमेव । तच्च ग्रामादेरक्षतं स्वगताऽवस्थानादिक्रियाद्वारो-करीत्या कारकत्वाच्चेत्यपादानत्वं सूपपादम् । नन्वौदासीन्यात्साध्याऽऽगम-नादिक्रियायां ग्रामादेः सामग्रीत्वं नेष्यते एवेति चेन्न । तदाह–कस्यचिदि-त्यादि । अयंभावः–उत्तरदेशसंयोगाद्यात्मकमागमनादिकं पूर्वदेशादितोऽपायं विनाऽनुपपन्नम् । अपायश्च निराश्रयो न सम्भवतीति ग्रामादिरपेक्षितः । एवञ्चाऽऽगमनादौ तदनाश्रयत्वादुदासीनोऽपि ग्रामादिः स्वाऽवस्थितिक्रिययाऽ-पायं साधयन्नागमनमुपकरोतीति सामग्रीष्यते । सैव चाऽपादानमित्युच्यत इति । अतएव चोदासीनस्याऽपादानत्वे कर्त्रादिभिन्नस्य जगतोऽप्यपादान-

---

२–७ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः ग० नास्ति । ३ 'ज्वलनद्वारा काष्ठानां निमित्तता' ग० पाठः । ४ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः क० नास्ति । ५ 'स आ' क० । ६ 'निमित्तभावमुत्पादयति' इति क० । ७ यदीत्यतः पूर्वं 'तथा चोक्तंन्यासकृता इति क० ग० अधिकः पाठः । ९ 'च्छेदपा' क० । १० 'ष्पा' क० । ११ 'इति ध्रुवं श्रुता' क० । १२ 'ण न्यासस्या' क० । १३ 'स्याग' क० । १४ 'गमननिमित्त' क० ।

त्यपि सामग्री साध्य[१] क्रियोदासीना। (उदासीन[२]) साधन-[३] साध्यत्वमेवाऽपायस्येती[४] यती सामग्री।

नन्वव[५] स्थानं गतिनिवृत्तिः, (गति[६])निवृत्तिश्चाऽभावः। (स[७]) कथं क्रिया[८]?। (उच्यते[९])—धातोरर्थः क्रियेति[१०] वैया-करणानां (क्रिया[११]) लक्षणम्। तेनाऽभावोऽपि धातुना[१२]ऽभिधीय-मानः क्रिया भवति। (यथा[१३]—'नश्यती'ति। नशिना धातुनाऽ[१४]-भिधीयमानो नाशोऽ[१५]भावरूपः क्रिया भवति। अन्यथाऽवतिष्ठते, नश्यतीत्यादौ धातुसंज्ञैव (न[१६]) स्यात्, अक्रियाऽर्थत्वात्।

ननु तथाऽप्यवतिष्ठमानो (न[१७]) गच्छतीति गमनं प्रत्युदा-सीनमेवेति कथं कारकत्वम्?। अथ न कारकत्वं तदा 'ऽपाये यदुदा-सीनमि' त्यत्र श्लोके उदासीनवचनव्यक्ति र्नोपपद्यते।

भद्रङ्करोदया

त्वापत्तिरिति वाचोयुक्ते नाऽवसरलेशोऽपि। अपायाश्रयस्यैवाऽपादानत्वा-दिति दिक्।

---

१ 'सा क्रि' क०। २ एतदन्तर्गतः पाठः क० ग० नास्ति। ३ 'असाधनत्वादुपायस्य' क०। ४ 'इति' क० नास्ति। ५ 'न्वेवं' ग०। ६-७-९ ( ) क० नास्ति। ८ 'क्रियते' क०। १० 'यैवेति' क०। ११ ग० नास्ति। १२ 'नां वि' क० १३ यथेत्यारभ्य निरूपिता पञ्चमीत्यन्तो ग्रन्थो ग० पुस्तके नास्ति। १४ 'नां वि' मू० प्र०। १५ 'शाभा' मू० प्र०। १६-१७ मू० प्र० नास्ति, औचित्यान्निवेशितः।

अत्रोच्यते—उदासीनमित्यस्य कोऽर्थः ? । आगमनक्रियायाः कर्त्ता न भवति गच्छन्तं देवदत्तं नाऽनुगच्छति, आगमय [१]ति=निमित्तं पुनर्भवत्यपायस्येति । तथाहि—अपायो विश्लेषः, स च द्वाभ्यां साध्यते । तत्र यदैकः क्रियायां प्रवर्त्तते तदा सिद्ध्यति । अ [२] न्यस्तूदासीनतयाऽपायसिद्धौ निमित्तमिति निमित्तभाव एवोदासीनशब्देन दर्शित इति विस्तरेण निरूपिता पञ्चमी ) ॥ ५ ॥

( षष्ठी [३] सम्प्रति निरूप्यते । का पुनरियं षष्ठी ?, 'ङस् ओस् आमि' ति । तस्याः पुनरेतल्लक्षणम् )–'षष्ठी शेषे' ( पा० ) इति । कर्मादिभ्यो योऽन्यः प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकी [४] स्वस्वामि [५] भावादिसम्बन्धः ( स [६] ) शेषः । प्रातिपदिकार्थो येन व्यतिरिच्यते=अतिरिक्तो भवति स प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकः । कर्मादिकारकैः प्रातिपदिकार्थोऽतिरेकीक्रियते [७] । कटं [८] करोतीत्यादौ कर्मत्वादेः प्रातिपदिकार्थादन्यत्वात् । स [९] हि फलमूल( पलाश [१०] )स्कन्धादिरूपोऽ[११]नुपात्तसङ्ख्याकर्मादिविशेषः सर्वविभक्त्यर्थाऽ [१२] व्यभिचारी अन्वयी ।

१ 'म इ' मू. प्र. । २ 'तदेवो' मू. प्र. । ३ ( ) एतदन्तर्गतपाठस्थाने 'अथ षष्ठी' त्येतावन्मात्रं ग०पाठः । ४ 'कः' क० । ५ 'त्वादि' ग० । ६ क० नास्ति । ७ क्रियते इत्यतोऽग्रे ननु 'कर्मादयोऽपि प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकिण' इत्यधिको ग० पाठः । ८ 'घटं' ग० । ९ 'प्रातिपदिकार्थो ह्यन्वयी फल' इति कः । १० ग० नास्ति । ११ 'पोऽर्थोऽ' क० । १२ 'र्थाऽन्वयी व्य' क० ।

न च कर्मादयोऽन्वयिनः, तेषामन्य १ विभक्त्यर्थे व्यभिचारात् । तथाहि २–'कटेने'त्यत्र कर्मत्वं नास्ति । (कटायेत्यत्र ३ करणत्वं नास्ति) इत्यादि योज्यम् । तस्मात्कर्मादिभिः प्रातिपदिकार्थोऽतिरेकी-क्रियते । तथा सम्बन्धेनाऽपि (प्रातिपदि ४ कार्थोऽतिरेकी) क्रियते । (तथाहि ५–अस्येदंभावलक्षणः सम्बन्धः । न चाऽसौ सर्वविभक्त्य-र्थाऽव्यभिचारीति नासौ प्रातिपदिकार्थ इति । अतस्तेनाऽपि प्राति-पदिकार्थोऽतिरिच्यते ।) यद्यपि सम्बन्धेन कर्मादिभिश्च (द्वाभ्यां ६) प्रातिपदिकार्थोऽतिरिच्यते, तथापि कर्मादीनां प्राक्प्रवचना ७ तदपेक्षया तदन्यः प्रातिपदिकार्थव्यतिरेको गृह्यमाणः पारिशेष्यात्सबन्ध एव (विज्ञायते ८ इति) । (अत ९ आह–कर्मादिभ्यो योऽन्य' इत्यादि ।

एतेन शेषशब्देनेह सम्बन्धो ग्रहीतव्यः । (तत १०) एतदुक्तं भवति-सम्बन्धे षष्ठीति । स च सम्बन्धः सर्वत्र क्रियाकारक(पूर्वको ११) जन्यजनकभावादिः । तथाहि–'राज्ञः पुरुष' इत्यत्र भरणकृतो रा-जपुरुषयोःसम्बन्धः । 'वृक्षस्य शाखे' ति । अवस्थानक्रियाकृतो वृक्षशाखयोः सम्बन्धः । विभक्तिपुरुषं (प्रति १२) राजनेनाऽसौ राजो-च्यते । वृक्षे १३ तिष्ठति शाखेति तस्य सा । तदेवं सर्वत्र सम्बन्धेऽश्रू-

१ 'षामन्वयिनोऽन्यत्र' क० । २ 'यथाहि' ग० । ३–४–५–६ ( ) एतदन्तर्गतः पाठो ग० नास्ति । ७ 'कर्मत्वात्' क० । ८ क० नास्ति । ९ 'अत आहे' त्यारम्भ 'अतिक्रामती' त्यन्तो ग्रन्थो ग० नास्ति । १०–११–१२ ( एतदन्तर्गतः पाठोमूलप्रतौ नास्ति, औचित्यान्निवेशितः । १३ वृक्षे तिष्ठति शाखा स तावत्तत्रेति तस्य सा, शाखास्तत्र वृक्षे तिष्ठन्ति, तस्य वृक्षस्य ताः शाखा इत्यर्थः इति मू. प्र. पाठः ।

यमाणाऽपि क्रिया हेतुभूता सम्बन्धदर्शनेनाऽनुमेया। क्वचित्पुनः श्रूयमाणाया एकक्रियायाः सम्बन्धो विवक्ष्यते। यथा—'माषाणामश्नाति'। तदेतदशनं [1] तन्माषाणां नाऽन्येषामित्यर्थो विवक्षितः। तदुक्तम्—

"सम्बन्धः [2] कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते" ॥ १ ॥

तत्राऽ [3] स्येदंभावलक्षणरूप एक एव सम्बन्धः। (यद्यपि [4] स्वस्वामिजन्यजनकभावे) त्यादयो बहवः सम्बन्धाः पुरुषायुषेणाऽपि गणयितुं न शक्यन्ते। (तथापि [5]) सर्वत्र सम्बन्धिभेद एव सम्बन्धस्य भेदकोऽत्रेष्टव्यः। परमार्थतस्तु सम्बन्ध एक एव, अस्येदंभावस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात्। स नास्त्येव हि सम्बन्धो योऽस्येदंरूपमतिक्रामति।)

स [6] चाऽयं सम्बन्धः सम्बन्धिनिष्ठत्वाद् द्विष्ठः। तत्र यद्यपि (स [7]) द्विष्ठस्तथापि विशेषणादेव षष्ठी न विशेष्यात्। (तदुक्तम् [8]—'यथा शेषोऽयं प्रकृतादन्यमाचष्टे तथा परार्थमपि। तेन विशेषणस्य परार्थत्वात्तत एव षष्ठी' ति। तन्त्रेणाऽऽवृत्त्या वा शेषशब्दद्वयं द्रष्टव्यम्। शेषे सम्बन्धे शेषे परार्थे=विशेषणे षष्ठी। तदुक्तम्—

---

१ 'शनतन्मा' मू. प्र.। २ 'सम्बन्धकारकेऽन्योन्यः' मू. प्र.। ३ 'तत्र यत्रयस्ये' मू. प्र०। ४–५ ( ) एतदन्तर्गतः पाठो मू. प्र. नास्ति। ६ 'तस्मदस्येदंभावरूप एव सम्बन्धः सम्बन्धिद्वयनिष्ठः' इति क० पाठः। ७ 'स' इति ग० नास्ति। ८ 'तदुक्तं यथे' त्यारभ्य 'षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकादि' त्यन्तो ग्रन्थो ग० नास्ति।

'परार्थे स्वार्थनिक्षेपादप्रधानं विशेषणम् ।
विशेष्यत्वात्प्रधानं स्यात्स्वार्थस्यैव प्रकाशनात् ॥ १ ॥
भेद्यभेदकयोः श्लिष्टःसम्बन्धोऽन्योन्यमिष्यते ।
द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्' ॥ २ ॥

ननु यदि सम्बन्धो द्विष्ठस्तदाऽसौ किं सर्वात्मना वर्त्तते उतांऽऽशेन [1] ? । (तत्र [2]) यदि सर्वात्मनेति [3] पक्षस्तदा राजनि यः सम्बन्धः सर्वात्मना स पुरुषे नास्ति, पुरुषे यः स्थितः [4] स राजनि नास्ति (इति [1]) राजपुरुषावसम्बद्धौ [2] स्याताम् । (ततश्च [3]) राजन्-

## भद्रङ्करोदया

परार्थ इत्यादि । परार्थे विशेष्यपदार्थे स्वार्थस्य निक्षेपात्तदाश्रितत्वेन निवेशाद् विशेषणमप्रधानम् । लोके हि पराश्रित एवाऽप्रधानं कथ्यते । एवं च परार्थत्वमेवाऽप्राधान्यमिति भावः । यच्च स्वार्थमेव प्रकाशयति नतु परार्थे निविशते तद्विशेष्यस्वात्परार्थे स्वार्थाऽनिक्षेपात्प्रधानमित्यर्थः । एवञ्च स्वार्थमात्रप्रकाशकत्वं प्राधान्यमिति भावः । भेद्यभेदकयोरित्यादि । भेद्यभेदकयो र्विशेष्यविशेषणयोरन्योन्यं सम्बन्धः । यथा राज्ञः पुरुषेण तथा पुरुषस्य राज्ञा । अत एव स एक एव सम्बन्ध उभयोः श्लिष्टः स्थितः । तदेवं यद्यपि सम्बन्धो द्विष्ठोऽस्ति तथापि षष्ठ्युत्पत्तिर्भेदकात्तु भेद्यादित्यर्थः ।

असम्बद्धौ स्यातामिति । यो ह्येकत्र सर्वात्मना भवति सोऽन्यत्र न

१ 'उभयाङ्गेन वा' क० । २ ग० नास्ति । ३ 'ना वर्त्तते' क० ।
४ 'तिष्ठति' क० । १ क० नास्ति । २ 'म्बन्धावेव' क० ।
३ क० ग० नास्ति ।

शब्दादुत्पन्नया षष्ठ्या पुरुषसम्बन्धस्याऽनभिधानात्तदभिधानार्थं पुरुषशब्दादपरया षष्ठ्या भवितव्यम् [१] ।

अथांऽशेन [२], तदा राजनि न सम्बन्धोऽस्ति नाऽपि पुरुषे । किं तर्हि ?, तदंश [३] सम्बन्धस्तिष्ठति । (इति [४]) न राजन्शब्दान्नाऽ[५]पि पुरुषशब्दात्षष्ठी भवितुमर्हति [६] । किं तर्हि, राजपुरुषसमुदाया देव [७] ।

### भद्रङ्करोदया

**भवति । न हि गृहे स्थितो देवदत्तो बहिर्भवति । एवञ्च यः सम्बन्धो राजनि न स पुरुषे यश्च पुरुषे स न राजनीति द्वयोःपृथगेव स्वस्वसम्बन्ध इति एकस्य सम्बन्धस्योभयोरवर्त्तनादन्योन्यं सम्बन्धाऽभावाद् द्वावसम्बद्धौ । एकस्य सम्बन्धो यद्यपरत्र भवति तदा हि सम्बद्धत्वव्यवहार इत्याशयः । भवतु वा स्वस्वसम्बन्धेन राजा पुरुषश्च सम्बद्धः, उभौ एकेन सम्बन्धेन सम्बद्धाविति न स्यादिति राजसम्बन्धवान् पुरुष इति राजपुरुषपदान्न प्रतीयेतेति बोध्यम् । भवितव्यमिति । अत्रेदं विचारणीयम्—सम्बन्धः सर्वात्मना वर्त्तत इति पक्षे सम्बन्धाऽभिधानार्थमुभयत्र षष्ठ्यामप्युक्तरीत्या तत्तत्षष्ठीवाच्यसम्बन्धस्य तस्मिंस्तस्मिन्नेकस्मिन्नेव वर्त्तनादुभयोः परस्परमेकसम्बन्धाऽभावाद् 'राजपुरुषावसम्बद्धौ स्याताम्' इत्युक्तापत्तितादवस्थ्यमिति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरित्युभयत्र षष्ठ्या आपादनमबद्धमिति ।**

**नापि पुरुषे इति । अंशेन वृत्तौ न वृत्तिता सम्बन्धस्येत्यभिमानः । समुदायादेवेति । यद्यपि भूतलादौ घटादाविवांऽशेन वृत्तावपि**

---

१ 'भाव्यम्' क० । २ 'क्षे' क० । ३ 'तदंशेनांऽशसम्बन्धः' क० । 'तदङ्गसम्बन्धस्तिष्ठति' ग० । ४ क० नास्ति । ५ 'दिव' क० । ६ 'भवति' ग० । ७ 'यात्' ग० ।

किंच (‘ राज्ञः [१] पुरुष ’ इत्यत्र राजा पुरुषश्च द्वयमुपलभ्यते। तत्र न राजा सम्बन्धो नाऽपि पुरुषः, तयोः प्रातिपदिकार्थत्वात्। तद्व्यतिरेकी च सम्बन्धः। तस्मात्स नास्तीत्यनुमीयते।

अत्रोच्यते :—सम्बन्धः सर्वात्मना राजनि पुरुषे चाऽस्तीत्यङ्गी-कार्यम्। द्विष्ठोऽप्यसावेक एव। य एव राज्ञि स एव पुरुषे नाऽन्यः। तेनैकेन द्वावपि सम्बद्धौ, एकत्वाच्च स एकस्मादेव सम्बन्धिन उत्पद्य-

## भद्रङ्करोदया

वृत्तिता निराबाधा तथापि न सम्बन्धांशेऽपि तु सम्बन्धे षष्ठीति समुदा-यात्षष्ठ्यैवाऽविकलसम्बन्धार्थलाभसम्भव इति समुदायादेव षष्ठीसम्भव इति बोध्यम्।

उपलभ्यत इति। प्रत्यक्षत इतिशेषः। तद्व्यतिरेकी=प्रातिपदि-कार्थव्यतिरेकी। चो हेतौ। यतस्तद्व्यतिरेकी सम्बन्धोऽतस्तयोः प्राति-कार्थत्वान्न राजा नापि पुरुषः सम्बन्ध इत्यन्वयः। तद्व्यतिरेकी च सम्बन्ध इत्यनन्तरं ‘स तु नोपलभ्यते’ इति शेषः। अनुमीयते इति। इह हि यद्भवति तदुपलभ्यते राजपुरुषादिरिवेति हृदयम्।

अस्तीति। सम्बन्धस्य तथास्वाभाव्यादिति बोध्यम्। एक एवेति। प्रत्येकमुभयादौ वर्त्तमानद्वित्वादिवदिति ध्येयम्। सम्बद्धाविति। एवञ्च “राजपुरुषावसम्बद्धावेव स्याताम्” इत्यापत्ते र्नाऽवसर इति भावः।

---

१ ( ) एतदन्तर्गतः ‘राज्ञ’ इत्यारभ्य ‘अनुमेयः सम्बन्ध’ इत्यन्तो ग्रन्थः क० नास्ति।

मानया षष्ठ्या प्रत्यायितत्वाद् द्वितीयसम्बन्धिनो नाऽर्हति भवितुम् ।

यत्तूक्तम्—(तस्मात्स १ नास्तीत्यनुमीयत) इति । तत्रोच्यते-राज्ञः पुरुष इत्युक्ते (सम्बद्धत्वं २ राजपुरुषयोर्गम्यते) । सम्बद्धत्वं च सम्बन्धं विना नोपपद्यत इति धर्माऽ ३ नुमेयः सम्बन्धः) ।

(ननु १) यदि २ सम्बन्धेन राजपुरुषौ सम्बद्धौ तदा सम्बन्धः केन ताभ्यां सम्बद्धः? सम्बन्धान्तरेण चेत्, सोऽपि केनाऽ ३ पि सम्बन्धान्तरेणेत्यनवस्था । अथ सम्बन्धः स्वत एव सम्बद्धः ४ । एवं

## भद्रङ्करोदया

नाऽर्हतीति ॥ उक्तार्थानामप्रयोग इतिन्यायादिति बोध्यम् । एवञ्च 'तदभिधानार्थं पुरुषशब्दादपरया षष्ठ्या भवितव्यमि' त्यापत्तिर्निरस्तेति ध्येयम् ।

गम्यत इति । शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्सम्बद्धतयैव ततस्तयोः प्रतीतेः । अन्यथा राजकीयपुरुषादिबोधेच्छया तादृशवाक्यानामसम्भव एवाऽऽपद्येतेति बोध्यम् । धर्मेति । सम्बद्धत्वधर्मेत्यर्थः । एवञ्च सम्बन्धो नास्तीति निराकृतं वेदितव्यम् । नहि यदुपलभ्यते तदेवाऽस्ति, अपि त्वनुमित्यादिविषयोऽपीति बोध्यम् ।

---

१ 'सम्बन्धो नास्त्येवाऽप्रतीतेः' मू० प्र० । २ 'सम्बन्धोराजपुरुषवद्गम्यते' मू० प्र० । ३ 'कर्मा' मू० प्र० । १-५-६ ( ) एतदन्तर्गतः पाठः मू० प्र० नास्ति । २ ग० नास्ति । ३ 'न स' क० । ४ 'न्धः' क० ।

तर्हि राजपुरुषावपि स्वत एव सम्बद्धौ भविष्यतः । ततः किं सम्बन्धे-नाऽपि । असम्बन्ध एव सम्बन्धो राजपुरुषौ सम्बन्धिनाविति (चेत् ५)। एवं सत्यतिप्रसङ्गः । अन्वयी येनाऽपि स सम्बन्धो नाऽन्यः । (इति ६ विचारिता षष्ठी) ।

अथ १ सप्तमी निरूप्यते-"क्रियाऽऽश्रयस्याऽऽधारोऽधिकरणम्" (सि० है०) । क्रियाया आश्रयः कर्त्ता कर्म च । तस्य य आधार-स्तदधिकरणम् ।

"कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत्क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्" ॥ १ ॥

तत्पुनस्त्रिविधम् । औपश्लेषिकं यथा—कटे आस्ते । वैषयिकं यथा—खे शकुनयः । अभिव्यापकं—तिलेषु तैलम् ।

भद्रङ्करोदया

एवं सतीति । यद्यसम्बन्ध एव सम्बन्धः, तावतैव च राजपुरुषौ सम्बन्धिनावित्यभ्युपेयते, तदाऽसम्बन्धाऽविशेषाज्जगतो राजपुरुषत्वापत्तिः । न च तथा । तस्मात्सम्बन्धवशादेव कोऽपि सम्बन्धी, स च सम्बन्धः स्वरूपत :एव सम्बद्धो न सम्बन्धान्तरमपेक्षते, तथास्वाभाव्यादित्यङ्गी-कार्यम् । अन्यथाऽनवस्थापत्तेः । न चाऽसम्बन्धाऽविशेषेऽपि यत्राऽन्वयः स सम्बन्धीति न कोऽप्यतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । अन्वयो हि न सम्बन्धं विना, अन्यथा पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात् । नन्वस्तु कथमप्यन्व-न्वय इति सम्बन्धोऽसिद्ध एवेति चेत् । येनाऽपि कृत्वाऽन्वयी, स सम्बन्धो नान्य इति ।

---

१ एतदारभ्य समाप्तिं यावद्ग्रन्थः क० नास्ति ।

साम्प्रतमन्यन्निरूप्यते-( देवदत्तो न भवति २ ) कटं न करोति, असिना न च्छिनत्ति, देवाय बलिं ( न ३ ) दत्ते, ग्रामान्न याति, राज्ञो नाऽयं पुरुषः, गृहे नास्ती ' त्यादौ द्वितीयादिभि र्न भवितव्यम्, तन्निमित्तस्य नञा निषेधात् ।

अत्रोच्यते—प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः । पूर्वं प्रतिषेधविषयोपदर्शनं कर्त्तव्यमिति द्वितीयादयो भवन्त्येव । पश्चान्नञा सम्बन्धः । न ह्यदर्शितविषयः प्रतिषेद्धुं ४ शक्यते ।

## भद्रङ्करोदया

तन्निमित्तस्येति । क्रियाया इत्यर्थः । क्रियाजनकं कारकमिति क्रियैव हि कारकत्वनिमित्तमिति क्रियानिषेधे तज्जनकत्वरूपकारकत्वाऽसम्भव इति भावः । प्रतिषेद्धुं शक्यत इति । अयंभावः देवदत्तादेः क्रियासम्बन्धाऽभावे क्रियानिषेधो व्यर्थः, निषेध्याऽभावात् । नन्वेवं देवदत्तादेः प्राक्क्रियासम्बन्धाऽभ्युपगमे पश्चात्तन्निषेधोऽपि व्यर्थः । यदुक्तम्—" भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्था इति ब्रूयात् , किं तेन कृतं स्यादि" ति चेत् । एवं तर्हि बुद्ध्यापादितक्रियासम्बन्ध एव निषेधविषयस्तादृशवाक्यव्यवहाराऽन्यथाऽनुपपत्त्येदृशस्थलेषु बोध्यः । वक्ता ह्यादौ देवदत्तादीन् बुद्ध्या क्रियया सम्बध्नाति पश्चान्निषेधति । बौद्धः क्रियासम्बन्धो न कारकत्वायाऽलम्, करोतीति कारकमिति व्युत्पत्तेरित्यसाम्प्रतम् । बौद्धार्थमादाय शशशृङ्गादिपदेषु नामत्ववद्बौद्धक्रियासम्बन्धमादाय कारकत्वस्यापर्यनुयोज्यत्वात् ।

---

२–३ मू० प्र० नास्ति । ४ 'उपलब्धुम्' मू० प्र० ।

इदानीमन्यन्निरूप्यते— देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां पचतीति । अथ किं देवदत्तादीनां पाकं प्रति प्रत्येकं क्रियाकारकत्वमुत समुदा--यस्य ? । तत्र यदि प्रत्येकम्, तदैकेनैव पाकस्य कृतत्वादितरेषामनु-पयोगादकारकत्वम् । अपरैरपि क्रिया जन्यत इति चेन्न । कृतस्य करणाऽसम्भवात् । अन्या क्रियत इति चेन्न । पचतीति एकैव क्रिया श्रूयते, सा च देवदत्तेनैव कृता । अन्या च न श्रूयते, या काष्ठा-दिभिर्विधीयेत । एवं तेषामकारकत्वमापन्नम् ।

किञ्च यदि प्रतिकारकं ( क्रिया )भेदस्तदा यावन्ति कारकाणि तावत्यः क्रियाः प्राप्नुवन्ति, तावन्ति च क्रियाफलानि ।

किञ्च देवदत्तादीनां मिथः सम्बन्धो न स्यात् क्रियाभेदात् । एकक्रियाकृतो हि कारकाणां मिथः सम्बन्धः । सिद्धरूपतया तेषां ( न स्वतो मिथः सम्बन्धः ), समत्त्वात् । यथोक्तम्— ‘ गुणानामसम्बन्धः

भद्रङ्करोदया

प्रत्युत तादृशव्युत्पत्तिबलेन बौद्धोऽपि क्रियासम्बन्धोऽपेक्षित एव कारकत्वे इत्येव लभ्यते । भाष्ये सिद्धहेमशब्दानुशासनबृहद्वृत्त्यादौ च बुद्धि-कृतसंसर्गपूर्वकविभागमाश्रित्याऽऽपादानत्वं निर्वाह्य भयार्थकादियोगे अपादा-नत्वार्थं पृथग्योगस्य प्रत्याख्यातत्वाच्च ।

क्रियाफलानीति । प्रत्येकं क्रियायाः फलसद्भावात्, क्रियायाः फल-वत्त्वनियमादिति बोध्यम् । समत्त्वादिति । ‘ गुणानां च परार्थत्वाद-सम्बन्धः समत्वात्स्यादिति जैमिनिसूत्रम् । अयं भावः । सिद्धये ह्यन्याऽपेक्षा । सिद्धश्च सिद्धत्वादेव निरपेक्षः । तस्मान्न कारकाणां मिथः सम्बन्धः, सिद्धत्वेन समत्त्वात् । यथा गुणानां पारार्थ्यसाम्यान्मिथो न

समत्वादि' ति । क्रियाकृतोऽपि नास्ति, क्रियाभेदात् । न च भिन्नक्रियाकारकयोर्मिथः सम्बन्धो दृष्टः । (न हि) 'पचन्ति पाचकाः, यजन्ति याजका' इति पाचकयाजकयोर्भिन्नक्रिययोः सम्बन्धोऽस्ति ।

अथ समुदायस्य कारकत्वमिति पक्षः कक्षीक्रियते तदा देवदत्तादीनां प्रत्येकं कारकत्वं न स्यात्, समुदायस्य कारकत्वात् । ततश्च देवदत्तादिसमुदायः पचतीति प्रयोगो युज्यते, न तु देवदत्तः पचतीति पूर्वपक्षः ।

अत्रोच्यते—प्रत्येकमेव कारकत्वम् । प्रतिकारकं च क्रियाभेदः । तदुक्तं भाष्यकृता– "प्रतिकारकं क्रियाभेद" इति । देवदत्तस्य विक्लेदनादिव्यापारः, ओदनस्य विक्लित्तिः, काष्ठानां ज्वलनम्, स्थाल्या अम्भोधारणमित्येवं प्रत्येकं क्रियाभेदः । सर्वाण्यपि कारकाणि स्वव्यापारे कर्तृत्वमनुभूय प्रधानव्यापारे करणादिव्यपदेशमश्नुवते । राजसन्निधावमात्यानामिव प्रधानसन्निधौ तेषामप्रधानत्वात्करणादिव्यपदेशो न तु कर्तृत्वं स्वगतव्यापारे सत्यपि । यदा तु प्रधानसन्निधि र्न भवति तदा स्वव्यापारे सर्वेषां प्राधान्यात्कर्तृत्वमेवाऽऽविर्भवति । यथा क्लिद्यत्योदनः, ज्वलन्ति काष्ठानि, स्थाली जलं धारयति । उक्तञ्च—

## भद्रङ्करोदया

**सम्बन्धः । क्रियायां त्वेकस्यां साध्यायां तस्याः सम्भूय साध्यत्वात्समानप्रयोजनसद्भावाद् युद्धे योधानामिव कारकाणां तत्क्रियाकृते मिथः सापेक्षत्वात् सम्बन्ध इति । नास्तीति । कारकाणां मिथः सम्बन्ध इति शेषः ।**

" स्वव्यापारे च कर्तृत्वं सर्वत्रैवाऽस्ति कारके ।
व्यापारभेदाऽपेक्षायां करणत्वादिसम्भवः " ॥ १ ॥

ननु 'चैत्रः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचती' त्येकैव क्रिया श्रूयते नहि क्रियान्तरम् । तत्कथं क्रियाभेदात्कारकभेद इति ।

अत्रोच्यते —अत्रैव काष्ठादयः पाकमुपकुर्वते । गृहीतस्वव्यापारा एव पाकमुपकर्तुं शक्नुवन्ति न निर्व्यापाराः । न ( हि ) ज्वलनं विना काष्ठैः पाक उपकर्तुं शक्यते । ततो यद्यपि नाम क्रियान्तरं न श्रूयते तथापि करणादिकारकाऽनुरोधेनाऽश्रूयमाणमपि गम्यत एवेत्यदोषः । अश्रूयमाणक्रियाकारकत्वेनाऽप्राधान्याच्च करणादिव्यपदेशं लभते ।

यदा च तेषां क्रिया श्रूयते तदा श्रूयमाणक्रियत्वेन प्राधान्या-

## भद्रङ्करोदया

करणादिकारकानुरोधेनेति । करणत्वाद्यात्मककारकत्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्येत्यर्थः । अक्रियस्योक्तरीत्या मुख्यक्रियां प्रत्युपकारकत्वाऽसम्भवात्तदपेक्षकारकत्वस्याऽप्यसम्भवात्, कारकमिति महासंज्ञयाऽक्रियस्याऽकारकत्वादिति बोध्यम् । नन्वेवं स्वगतक्रियाऽपेक्षः कर्तृव्यपदेश एव सर्वेषां कारकाणां कुतो नेत्याशङ्कायामाह-अश्रूयमाणक्रियाकारकत्वेनेत्यादि । अयंभावः—श्रूयमाणक्रिया प्रधानमिति तन्निमित्तकारकस्य प्राधान्यम् । अश्रूयमाणक्रिया न प्रधानमिति तन्निमित्तकारकस्याऽप्यप्राधान्यम् । एवञ्चाऽश्रूयमाणक्रियाकर्तुरश्रूमाणक्रियाकारकत्वेनाऽप्राधान्यान्न कर्तृव्यपदेशः । किन्तु प्रधानक्रियानिमित्तकरणादिव्यपदेश एव, प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्तीति न्यायादिति ।

श्रूयते इति । उपलक्षणमेतत् । तेन यदा करणादीनां स्वगत-

तेषामपि कर्तृत्वम् । यथा–' ज्वलन्ति काष्ठानि ' ।

तथा काष्ठादीनि स्वव्यापारं कुर्वन्त्येव देवदत्तस्य व्यापारमुपकुर्वन्ति । स्वव्यापारयुक्तान्येव प्रधानव्यापारेण पाकेन सम्बध्यन्ते । यतः स्वव्यापारसम्बन्धः पाकसम्बन्धनिमित्तं तत्रेति स्वव्यापारनिबन्धनो मिथः कारकाणां न सम्बन्धः, तस्य प्रतिकारकमन्यत्वात् । तथापि प्रधानक्रियाया एकत्वात्तन्निमित्तो मिथः कारकाणां सम्बन्धः । किमत्राऽनुपपन्नम् ? ।

तथा प्रधानक्रियाफलमुद्दिश्य सर्वाणि कारकाणि प्रवर्त्तन्त इति यदुद्दिश्य प्रवृत्ति स्तदेव तस्य फलमित्युद्देश्यतया. प्रधानक्रियाफलमेव सर्वेषां फलमिति फलभेदलक्षणो दोषो नाऽवकाशमश्नुते इति अवस्थितैव कारकव्यवस्था— अवयवक्रिया कारकाणां प्रधानक्रियाकारकत्वे निमित्तमिति ।

## भद्रङ्करोदया

**क्रियैव पाकाद्यनुकूलत्वेन प्राधान्येन विवक्ष्यते तदाऽपि कर्तृत्वम् । तथा च—" काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति, ओदनः पच्यते " इत्याद्यपि ।**

प्रधानव्यापारेण पाकेनेति । **प्रधानपाकक्रिययेत्यर्थः । यथाश्रुतं तु न सम्यक् । पाकस्य फलत्वाद् व्यापारत्वाऽभावादिति ध्येयम् । किमत्राऽनुपपन्नमिति । प्रत्येकं कारकत्वं मिथः सम्बन्धश्चैकक्रियानिमित्त उपपद्यते, न च क्रियाभेद आवश्यक इति सर्वमप्युक्तरीत्योपपद्यत एवेत्यर्थः ।**

यद्येवमपादानसम्प्रदानयोः कारकत्वं न स्यात्, अवयवक्रियाऽभावात् । सत्यम्, तयोरपि स्वगतक्रिया कारकत्वनिमित्तं विद्यत एवेति । "ग्रामादागच्छति"–अवतिष्ठमानो ग्रामोऽपायं=विश्लेषं करोति, अवस्थानमपादानस्य स्वगतक्रिया कारकत्वे निमित्तं प्रधानक्रियायाः । संप्रदानमपि प्रदीयमानवस्तुनः प्रेरणाऽनुमननाऽनिराकरणैः प्रधानक्रियां करोति, प्रेरणादि च सम्प्रदानस्य स्वगतक्रिया कारकत्वे निमित्तमिति । यस्य चाऽवयवक्रिया नास्ति न तत्कारकम् ।

ननु किमिति प्रतिकारकं क्रियाभेदात्प्रत्येकं कारकत्वमिष्यते? यावता उपात्तक्रियाऽपेक्षयैव प्रत्येकं कारकत्वं भविष्यति । नैवम् । उपात्ता ह्येभिः क्रिया एकैव । सा चैकेन कारकेण कृतेतीतरेषामकारकत्वं स्यात् । कारकभेदात्पाकक्रियाभेद इति चेत् । एवं तर्हि सर्वेषां साक्षात्पाकक्रियासम्बन्धात् कर्तृत्वं स्यात् । ततश्च कर्तृबहुत्वाद्बहुवचनं स्यात्, काष्ठस्थालीदेवदत्ताः पचन्तीति प्रयोगः स्यात् । उत्सन्ना कारकान्तरव्यवस्था, उपात्तक्रियासम्बन्धेन सर्वेषां कर्तृत्वात् ।

किञ्च य एव एषामेकक्रियासम्बन्धस्तत्कृत एव तेषां परस्परसम्बन्धः । उक्तञ्च—

'प्रत्यात्मिकस्तु सम्बन्धः कारकाणां क्रियाकृतः ।
क्रियायाः कारकैरेव साक्षाद् योगोऽभिधीयते' ॥ १ ॥

भद्रङ्करोदया

**प्रत्यात्मिक इति । प्रतिस्वमित्यर्थः । मिथ इति शेषः । कारकैरेवेति । कारकाणां क्रिययैव न तु मिथः साक्षाद्योग इत्यर्थः । यद्यपि**

इति समुदायपरीक्षा ॥

इदानीमन्यद् विचार्यते—यत्र क्रियापदं न श्रूयते तत्र यत्क्रिया-रहितं वाक्यमुच्चार्यते तदसम्बद्धम्, ततश्च क्रियापदाऽध्याहारः कार्यः। ननु किमिति क्रियारहितं वाक्यमसम्बद्धम्? यावता 'पदसमुदायो हि वाक्यम्'। तत्राऽमीषां पदानां विशेषणविशेष्यभावलक्षण एव सम्बन्धोऽस्तीति किमिति असम्बद्धः स्यात्?। यथा 'राजपुरुषः'। सत्यम्। क्रियारहितानि पदानि साधनाऽभिधायीनि। सिद्धं च साधनं भवति। न च सिद्धं सिद्धमाकाङ्क्षति, समस्त्वात्। तस्मा-दाकाङ्क्षाया अभावादसम्बन्धः।

## भद्रङ्करोदया

**कारकाणां क्रिययाऽन्वये क्रियाया अपि कारकैः स इत्येवंरीत्या यथाश्रुतं न दुष्यति। तथापि पूर्वार्धस्वारस्यात्कारकाणां क्रिययैव साक्षाद् योग इत्यर्थस्यैव तात्पर्यविषयत्वं गम्यते। न च क्रियाया अन्वयो जिज्ञासित इति यथाश्रुतेऽनपेक्षिताऽभिधानत्वापत्तिश्चेति ध्येयम्। एवं च कारकभेदा-त्क्रियाभेदस्वीकारे कारकान्तराऽसम्भवः कारकाणां मिथः सम्बन्धाऽसम्भव-श्चेति क्रियैक्यमवश्यमेष्टव्यम्। सा चोपात्ता क्रियैकेन कृतेतीतरेषामकार-कत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति स्वगतक्रियायाः कारकत्वे निमित्तत्वमेष्टव्यम्। तत-श्चोपात्तक्रियाऽपेक्षया करणादिव्यपदेश इति निर्गलितोऽर्थः।**

**सिद्धं चेत्यादि। यद्धि न सिद्धं किन्तु साध्यमेव, तत्स्वयम-लब्धात्मलाभं न परसाधनयोग्यम्। यदुक्तम्—'नहि स्वयमसिद्धःपरान् साधयितुं समर्थ' इति भावः। असम्बन्ध इति। आकाङ्क्षया हि**

साध्यं च साधनमपेक्षत इति साध्यक्रिया साधनमपेक्षत इत्यस्ति साध्यस्य साधनाऽऽकाङ्क्षाकृतः सम्बन्ध इति साक्षात् क्रियायाः कारकाणां सम्बन्धो न परस्परम्। प्रत्यात्मिकस्तु सम्बन्धो मिथः कारकाणां क्रियाकृतो न स्वतः। यथोक्तम्–'प्रत्यात्मिकस्तु सम्बन्धः कारकाणां क्रियाकृत' इत्यादि। तत्र क्रियारहिते वाक्ये सम्बन्धाऽघटनाद् युक्तः क्रियाऽध्याहारव्यवहारः।

किञ्चाऽधिकाऽपि युक्तिरस्ति। यथा–यत् क्रियारहितं वाक्यं तदनेकप्रकारक्रियापेक्षत्वात् सन्दिग्धार्थम्। यथा–'वृक्ष' इत्युक्ते न ज्ञायते दृश्यते उच्छिद्यते वेत्यनेकक्रियापरिप्लुतत्वात् सन्दिग्धार्थता। ततो युक्तः क्रियाऽध्याहारः।

किंच युक्त्यन्तरमिदम्–यथा यदक्रियापदं वाक्यं तत्राऽध्याहारः कार्यः, असम्पूर्णत्वात्। तथाहि–क्रियारहितानि स्याद्यन्तानि पदानि साधनानि साध्यमपेक्षन्ते। यच्चाऽपेक्ष्यते, तेन रहितमसम्पूर्णं वाक्यम्। न चाऽसम्पूर्णेनाऽभिमतार्थप्रतिपत्तिः शक्यते कर्त्तुमिति। तदुक्तम्—

## भद्रङ्करोदया

**सम्बन्धभानम्। यदुक्तम्–'एकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते' इति। सम्बन्धिनि चैवाऽन्वयबोधार्थमाकाङ्क्षा। एवञ्च यत्राऽऽकाङ्क्षा नास्ति तत्र सम्बन्धोऽपि नास्ति। ननु राज्ञः पुरुष इत्यादौ पुरुषेणैवाऽऽकाङ्क्षापूर्त्तेर्न तत्र मन्त्र्याद्याकाङ्क्षा। न च तावता तत्र राज्ञः सम्बन्धो नास्तीति वक्तुं साम्प्रतमिति चेत्। उपात्तपदार्थेषु यत्र नाऽऽकाङ्क्षा तत्र न सम्बन्ध इत्याशयात्।**

" साध्यसाधनसम्बन्धः सर्वाऽऽख्यातेषु गम्यते ।
सर्ववाक्येषु चाऽऽख्यातं तेनाऽऽकाङ्क्षानिवर्त्तनात् ॥ १ ॥
तिङन्तेन यदा योगः स्याद्यन्तस्येह जायते ।
सम्पूर्णं तत्र जानीहि वाक्यस्याऽर्थं तदा ध्रुवम् " ॥ २ ॥

इति कारकाणां परीक्षा ॥

अस्तु तर्हि अवयवक्रियैव, किं प्रधानक्रियया ? । नैवम् । यदि प्रधानक्रिया न स्यात्, तदाऽवयवक्रियाणां भेदाद् देवदत्तादीनामेकवाक्यत्वं न स्यात् । एकक्रियानिबन्धनमेकवाक्यत्वम् । तच्च क्रियाभेदे न स्यात् । प्रधानक्रिया सर्वकारकाणां साध्या, इति युक्तं तदपेक्षयैकवाक्यत्वम् ।

## भद्रङ्करोदया

अवयवक्रियैवेति । कारकाणां स्वगतक्रियावाचकाऽऽख्यातपदाऽध्याहार एवाऽस्त्वित्यर्थः । एवञ्च तादृशक्रियाऽन्वयात् नाऽसम्बन्धो न वा सन्दिग्धार्थता नाऽप्यसम्पूर्णाऽर्थतेति भावः । एकक्रियानिबन्धनमिति । एकक्रियाऽन्वयित्वं ह्येकवाक्यत्वम् " एकतिङ् वाक्यमि " ति, 'सविशेषणमाख्यातं वाक्यमि' ति च वैयाकरणसमयात् । 'पश्य मृगो धावति, पचति भवती' त्यादावेकतिङो मुख्यविशेष्यतया भाष्यसिद्धैकवाक्यतोपपादनीया । क्रियाभेदे न स्यादिति । प्रत्येकं कारकस्य पृथक्तत्तत्क्रियाऽन्वयादेकक्रियाऽन्वयित्वाऽभावाद्वाक्यभेद एव स्यात्, नत्वेकवाक्यत्वम् । तथा सति विवक्षिताऽर्थाऽप्रतिपत्तेश्च नानाकारकघटितवाक्यप्रयोग एवोच्छिन्नः स्यादिति भावः ।

किञ्च यदि समुदायरूपा क्रिया न स्यात्तदा करणादीनां करणादिभावोऽपि न स्यात्, अवयवक्रियायां सर्वेषां कर्तृत्वात्। उक्तंच—

"स्वव्यापारेषु कर्तृत्वं सर्वत्रैवाऽस्ति कारके।
व्यापारभेदाऽपेक्षायां करणत्वादिसम्भवः ॥ १ ॥ इति।

एवं चैकवाक्यतानिमित्तः करणादिव्यवहारः। क्रियाभेदे सति वाक्यभेदेन स न स्यात्। तस्मादवयवक्रिया समुदायक्रिया चेति द्वयमङ्गीकार्यम्।

॥ इति कारकपरीक्षा महोपाध्यायश्रीपशुपतिकृता ॥

## भद्रङ्करोदया

ननु "देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यां पचती" त्यादौ यत्र क्रियापदं श्रूयते तत्र तत्क्रियायामेव सर्वकारकाणामन्वयः इति न वाक्योच्छेदः, न वा विवक्षिताऽर्थाऽप्रतिपत्तिर्नाऽपि वाक्यभेदः। यत्र चाऽध्याहारप्रसङ्गस्तत्र तत्तत्कारकगतक्रियावाचकपदाध्याहार एवाऽस्तु, विनिगमनाविरहादित्या-शङ्कायामाह–किञ्चेति। समुदायरूपा क्रियेति। कारकसमुदायाऽन्वयिनी मुख्या क्रियेत्यर्थः। तस्मादिति। अवयवक्रियां विनोक्तरीत्या प्रत्येकं कारक-त्वानुपपत्तेः समुदायक्रियां विनोक्तरीत्या करणत्वाद्यनुपपत्तेश्चेत्यर्थः।

इति कारकपरीक्षायां तपोगच्छाऽधिपतिशासनसम्राट्कदम्बगिरितालध्वज-
राणकपुरकापरडाद्यनेकतीर्थोद्धारकाचार्यवर्यविजयश्रीनेमिसूरीश्वर--
पट्टालङ्कारसमयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्यश्रीविजयविज्ञानसूरीश्वरपट्ट-

धर्मसिद्धान्तमहोदधिप्राकृतविद्विशारदाचार्यवर्यश्रीविजय--
कस्तूरसूरीश्वरशिष्यरत्नप्रख्यातव्याख्यातृकविरत्नपन्यास-
प्रवरश्रीयशोभद्रविजयजीगणिवरशिष्यपन्यासश्री-
शुभङ्करविजयगणिविरचिता भद्रङ्करोदयाख्या
व्याख्या पूर्तिमगात् ।

॥ श्रीरस्तु । शुभं भवतु ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीविजयनेमि--विज्ञान--कस्तूर--सूरि--पन्यासयशोभद्रसद्गुरुभ्योनमः ।

# ❀ कारकद्व्याश्रयकाव्यम् ❀

## भद्रङ्करोदयाख्यव्याख्याविभूषितम् ।

जयति स जिनो गरीयान् यदास्यनिःसृतवचोऽमृतं लोके ।
भवमरौ कर्मघर्मैःखिन्नान् तृष्णाऽऽकुलान् सुखयति ॥ १ ॥

नत्वा गुरुं **यशोभद्रं** वितनोति **शुभङ्करः** ।
कारकद्व्याश्रये लघ्वीं व्याख्यां भद्रङ्करोदयाम् ॥ २ ॥

अथ रात्रौ स्वप्ने " प्रभासविध्वंसपरेषु तेषु दण्डोशना त्वं भव सज्यधन्वे " ति शम्भोःप्रभासेशस्य सोमनाथस्य निदेशमाप्य प्रातः सभामधिष्ठितेन श्रीमूलराजेन स्वयंप्रतिष्ठापितस्याऽऽभीरस्य सुराष्ट्रेशस्य ग्राहरिपुसमाख्यस्य तपस्विपीडनाद्यविनयदुष्टस्य साधनोपायं पृष्टो मुख्यामात्यो जेहुलस्तन्निग्रहमुपदिश्य राज्ञस्तत्र प्रवृत्तये तस्य ग्राहरिपोर्दुराचारं वर्णयन्नाह—

**महैनसां कारकवत्क्रियाणां** [1]
**हेतुः** [2] **स्वतन्त्रः** [3] **स कुकर्म** [4] **कर्त्ता** ।

---

१ कारकलक्षणमुक्तम् । २–३ कारकभेदौ । ४ कर्तुस्तृतीयः कर्मकर्ताख्यो भेदो निर्वर्त्यमिष्टं कर्म च भङ्ग्योक्तम् ।

**विश्वं** [५] **ततापाऽऽट दिशो** [६] **ललङ्घे-**
**ऽब्धी** [७] **नास दुर्गाणि** [८] **भयं** [९] **न लेभे ॥ १ ॥**

महैनसामित्यादि । स ग्राहरिपुः **स्वतन्त्रः** स्वैरवृत्तिः, **कुकर्म** तपस्विपीडनादिरूपदुराचारं **कर्त्ता** कुर्वन् **क्रियाणां** धात्वर्थरूपाणां गतिस्थित्यादीनां **कारकवत्** कारकमिव **महैनसां** महतामतिदुष्फलानामेनसां पापकर्मणां वक्ष्यमाणप्रकाराणां **हेतु** र्जनकःप्रयोजकश्च **विश्वं** सर्वाः प्रजास्**तताप** सन्तापयामास । केन प्रकारेणेत्याह--**दिशः** सर्वासु **दिक्षुआट** बभ्राम, **अब्धीन् ललङ्घे, दुर्गाण्यास** बभञ्ज । त्राणार्थं दिक्षु पलाय्य समुद्रेषु दुर्गेषु च कृतसंश्रया अपि प्रजा दिशो भ्रान्त्वाऽब्धीन् विलङ्घ्य दुर्गाणि भङ्क्त्वा च ततापेत्यर्थः । एवं कुर्वंश्च कुतोऽपि **भयं न लेभे । कुकर्म** पापं चाऽपि कर्तृ फलदाने स्वतन्त्रः पापान्तराणां हेतुर्दिगादिस्थितानपि स्वदुष्परिणामेन विश्वं तापयतीति ग्राहरिपुः पापात्मेति ध्वन्यते ॥ १ ॥

विश्वतापनमेव विशदीकुर्वन्नाह --

**केल्याऽप्यटन् भापयते स भूपान्** [१]
**वसूनि** [१] **गा** [२] **दोग्ध्यनुशास्त्यधर्मम्** [३] **।**
**मुनीन्** [४] **सामाऽऽह** [५] **रुणद्धि वृत्तिं** [६]
**न सत्पथं** [७] **पृच्छति याचतेऽर्थम्** [८] **॥ २ ॥**

---

५ इष्टं विकार्यं कर्म ।६ इष्टं प्राप्यं कर्म । ७ अनिष्टं निर्वर्त्यं कर्म । ८ अनिष्टं विकार्यं कर्म ९ अनिष्टं प्राप्यं कर्म ॥ १ ॥

१ अनुभयं प्राप्यं कर्म । २-३-४-५-६-७-८ यथायथं द्विकर्म ।

केल्याऽपीत्यादि । स ग्राहरिपुः केल्या मनोविनोदेन राज-पाख्या हेतुना वाऽऽप्यटन् महता सैन्यसम्भारेण परिवृतत्वान्मां मनो-विनोदविहारच्छलेन पराभवितुमयमागच्छतीति शङ्कया बिभ्यतो भूपान् भापयते । तथा, गां महीं लक्षणया प्रजा वसूनि धनानि करादि-द्वारा दोग्धि निष्पीड्य गृह्णाति, अधर्ममनुशास्ति गां पापे प्रवर्त्तयति, मुनीन् साम हृदयङ्गमं नाऽऽह, परुषमेवाऽऽहेत्यर्थः । वृत्तिं भिक्षादि-रूपां रुणद्धि निषेधति मुनीन् । तथा मुनीन् सत्पथं सन्मार्गं न पृच्छति, अर्थं धनं च याचते मुनीन् ॥ २ ॥

ग्राहरिपोस्तेजो वर्णयन्नाह—

रत्नानि [१] रत्नाकर [२] मुच्चिनोति
निधीन् [३] कुबेरं [४] विजिगीषतेऽसौ [५] ।
प्राणान् [६] विपक्षैर्युधि भिक्ष्यते च
स्वभर्तृभावं [७] बत नीयते च ॥ ३ ॥

रत्नानीत्यादि । असौ ग्राहरिपू रत्नाकरं सागरं रत्नान्युच्चि-नोति सङ्गृह्णाति । सम्भृतकोशोऽसाविति भावः । कुबेरं धनदं

---

कधातुषु दुहादिषु वस्वादि प्रधानं गवादि चाऽप्रधानं कर्म ॥ २ ॥

१-२-३-४ द्विकर्मकधातुप्रयोगे रत्नादि प्रधानं रत्नाकरादि चाप्रधानं कर्म । ५-६-७ दुहादेरप्रधाने कर्मणि प्रत्ययो न्यादेश्च प्रधाने इति प्रथमाऽ-सावित्यत्र । विपक्षा अमुं प्राणान् भिक्षयन्ति, स्वभर्तृभावे नयन्ति चेत्यर्थव-लाद्यथायथं गौणता मुख्यता च ॥ ३ ॥

**निधीन्** निध्यात्मकधनानि **विजिगीषते** । सदा कोषवृद्धिं चिन्तयतीति यावत् । तथाऽसौ **युधि विपक्षैः** प्रतिपक्षनृपतिभिः **प्राणान्** **भिक्ष्यते च, बतेति** खेदे । **स्वभर्तृभावं** स्वस्वामित्वं **नीयते** **प्राप्यते च** । विपक्षास्तत्स्वामित्वं स्वीकुर्वन्ति स्वप्राणांस्त्रायन्ते चेति चद्वयं समुच्चये । आज्ञामस्वीकुर्वतः प्रतिपक्षान् हन्त्येवेति यावत् । नाऽऽज्ञास्वीकारं विना विपक्षान् जीवतो मुञ्चतीति सरलार्थः । एतेन पराक्रमी तेजस्वी चाऽसौ दुर्निग्राह्य इति ध्वन्यते ॥ ३ ॥

तस्याऽऽततायित्वमाह—

**जह्रेऽन्यदारान्** [1] **स्वपुरीं** [2] **दशास्यो**
**गां** [3] **कार्तवीर्यो यतिनं** [4] **मुमोष** ।
**भ्रूणान** [5] **कर्षद् भगिनीं** [6] **च कंसोऽ-**
**ग्रहीत् किमेतान** [7] **सकावनीतीः** [8] ॥ ४ ॥

**जह्रे** इत्यादि । **दशास्यो** रावणो**ऽन्यदारान्** रामभार्यां सीतां **स्वपुरीं** लङ्कां **जह्रे**ऽपहृत्य निनाय, **कार्त्तवीर्यः** सहस्रार्जुनो यतिनं मुनिं जमदग्निं **गां** कामधेनुरूपां धेनुं **मुमोषा**ऽपजहार, **कंसो** मथुरानरेशस्तदाख्यो **भगिनीं** जामिं देवकीं **भ्रूणान्** गर्भान**कर्षद्** गृहीतवान् । प्रसिद्धा एताः पुराणवर्णिताः कथा लोके । **असकौ** कुत्सितोऽसौ ग्राहरिपुरेतान् दशास्यादीन**नीतीः** परदाराऽपहरणादिरूपाननाचारान**ग्रहीत्**

१-२-३-४-५-६-७-८ द्विकर्मकधातूनामन्यदारादिकं मुख्यं स्वपुर्यादिकं चाऽमुख्यं कर्म यथायथं बोध्यम् ॥ ४ ॥

किमिति वितर्के । यतोऽयमुक्तप्रकारा अनीतीः करोति, ततस्तथा शङ्के इत्यर्थः । किञ्च तेषु प्रत्येकमेकैकम्, अत्र तत्सर्वमेकत्रेति तेभ्योऽप्ययमत्याचारीति ध्वनिः ॥ ४ ॥

तस्य प्रतापातिशयं वर्णयन्नाह—

**गजाऽश्वगाः [1] सिन्धुपतिं [2] ममन्थ**
**महीभृतो [3] भेद [4] मुवाह चेत्थम् ।**
**इन्द्रं [5] गुणान् [6] दण्डितवान्नु कालं [7]**
**स घातयामास न तेन [8] कालः ॥ ५ ॥**

गजाश्वगा इत्यादि । **स** ग्राहरिपुः **सिन्धुपतिं** सिन्धुदेशेशं **गजाश्वगाः** गजानश्वान् गाश्च वृषभादींश्च **ममन्थ** पराजित्य दण्डरूपेणाग्रहीत् । तथा, **महीभृतो** नृपान् संहत्य स्थितान् **भेद**मसंहतत्वं, भिन्नमतिकत्वमित्यर्थः । **उवाह** निनाय **च** । कूटनीतिप्रयोगेण भेदितवानित्याशयः । इत्थमनेन सिन्धुमन्थनमहीभृद्भेदप्रकारेण कृत्वा स **इन्द्रं** देवेन्द्रं **गुणान्** वैलक्षण्याणि, विशेषानित्यर्थः । **दण्डितवान्** बलाज्जग्राह । **न्वित्युत्प्रेक्षायाम्** । तेन चेन्द्रादप्यधिकबलवत्त्वं तस्य ध्वन्यते । इन्द्र ऐरावतं गजमुच्चैःश्रवसमश्वं कामधेनुं च समुद्रं ममन्थ वज्रेण महीभृतोऽद्रींश्च बिभेदेति पौराणिकाः । ते गुणाश्चाऽत्राऽपीति शब्दसाम्य-

१–२–३–४–५–६ द्विकर्मकधातुप्रयोगे यथायथं मुख्यं गौणं च कर्म । ७– अणिग्यविवक्षितकर्मणो हन्तेः कर्त्तुर्णिगि वा कर्मेतेति यथायथं द्वितीया तृतीया च ॥ ५ ॥

मूलोत्प्रेक्षा । तथा स कालं यमं घातयामास घ्नन्तं प्रेरयामास, कालस्तेन ग्राहरिपुणा न, घातयामासेति सम्बध्यते । स एव कालस्य प्रेरको नतु स्वयं कालवश इति तस्य महाप्रतापित्वं ध्वन्यते । युद्धादिना सोऽसमयेऽपि बहून् जघान नतु स्वयं क्वापि म्रियतेऽतिबलशालित्वादित्याशयः । यस्मिन् स प्रसीदति स जीवति यस्मै च कुप्यति सोऽवश्यं म्रियते इति निष्कर्षः ॥ ५ ॥

सोऽजीगमत्खेदमिलां [१] बलौघै-
रबोधयद्भाररुजं फणीन्द्रम् [२] ।
अदर्शयत्कालपुरीमराती [३]-
नभोजयत्तत्पिशितं पिशाचान् [४] ॥ ६ ॥

स इत्यादि । स ग्राहरिपु बलौघैः सैन्यसमूहैः कृत्वा इलां महीं खेदं श्रममजीगमदप्रापयत् । अत एव तैरेव स फणीन्द्रं शेषनागं फणधृतपृथिवीकत्वाद् भाररुजं सैन्यसमूहभारवत्पृथिवीभारजन्यां द्विगुणीकृतां पीडां परम्परयाऽबोधयदनुभावयामास । तथा तैरेव सोऽरातीन् शत्रून् कालपुरीं यमनगरमदर्शयत् , शत्रूनवधीदित्यर्थः । अत एव च तेषामरातीनां पिशितं मांसं पिशाचान् प्रेतविशेषानभोजयत् । महाबलसमन्वितो विजयी च स इति भावः ॥ ६ ॥

---

१-२-३-४ गतिसामान्यबोधविशेषबोधाऽऽहारार्थानां धातूनामणिक्कर्त्तुर्णिगि कर्मता ॥ ६ ॥

आश्रावयन्निग्रहगर्भवाचं
बन्दीकृतान् [1] दण्डमवीवदत्सः ।
संस्थापयन् वैरिशिरःसु पादं [2]
तेजोभि [3] रुग्रैः कमपीपचन्न ॥ ७ ॥

आश्रावयदित्यादि । स माहरिपु बन्दीकृतान् बलाद् गृहीत्वा निगडितान् नृपान् निग्रहगर्भां 'त्वयैतावद्दातव्यमन्यथा ते प्राणसंशय' इत्येवं दण्डप्रतिपादनप्रत्यलां वाचमाश्रावयंस्तानेव दण्डमवीवदत् स्वीकारितवान् । एतेन तस्याऽतिक्रूराचार उक्तः । तथा स वैरिणां शिरःसु मस्तकेषु पादं संस्थापयन् कुर्वन्, वैरिणोऽत्यन्तं न्यत्कुर्वन्नित्यर्थः । अत्यन्तन्यत्कारे लाक्षणिकमिदं वाक्यमिति बोध्यम् । उग्रैरुत्कटैः, प्रचण्डैरित्यर्थ । तेजोभिर्दण्डप्रतापैः कं नाऽपीपचत्, काक्वा सर्वानेवाऽतीतपदित्यर्थः ॥ ७ ॥

स उज्जयन्ते चमरी मृगव्ये-
ष्वानाययन्नादयते श्ववृन्दैः [1] ।
आक्रन्दयन् खादयति प्रभास-
तीर्थाश्रमैणीरपि चित्रकायैः [2] ॥ ८ ॥

---

१–२ शब्दव्याप्यशब्दक्रियनित्याकर्मणां धातूनामणिक्कर्त्तुर्णिगि कर्मता । ३ गत्यर्थादित्वाऽभावादणिक्कर्त्तुस्तेजसो णिगि तृतीया ॥ ७ ॥

१–२ गत्यर्थादिषु वर्जनान्नयत्यादीनामत्ताऽणिक्कर्त्तुर्णिगि न द्वितीया, किन्त्वनुक्तकर्तृत्वात्तृतीया ॥ ८ ॥

स इत्यादि । **स** ग्राहरिपु **रुज्जयन्ते** रैवतकाद्रौ **मृगव्येष्वा-खेटकेषु श्ववृन्दैः** सारमेयसमुदयैः प्रयोज्यकर्तृभिश्च**मरी**स्तदाख्या गा **आनाययन्**, श्ववृन्दान् ता आनेतुं प्रयोजयन्नित्यर्थः । तैरेव ता **आदयते** तान् ताः खादतःप्रेरयतीत्यर्थः । नैतावदेव, किन्तु **चित्र-कायै**स्तदाख्यैः श्वापदविशेषैःप्रयोज्यकर्तृभिः प्रभासतीर्थे ये आश्रमा मुनिवसतयस्तेषामेणी मृगीः **प्रभासतीर्थाश्रमैणीरपि**, अपि-नाऽऽश्रममृग्याः पालितत्वात्कदाप्यवध्यत्वं ध्वन्यते । **आक्रन्दयन्नारा-टयं**स्तैरेव ताः **खादयति** । अतिहिंस्रः स इति भावः ॥ ८ ॥

एवं ग्राहरिपोरनाचारं वर्णयित्वा सम्प्रति तत्र विधेयमाह—

**शब्दायय ह्वायय माऽद्य दूतै[१]-**
**स्तं भक्षयन्तं जगताऽ[२]ऽप्यभक्ष्यम् ।**
**शारी द्विपान्[३] वाहय वाहयाऽऽज्ञां**
**तद्दण्डचण्डां ननु दण्डनेत्रा[४] ॥ ९ ॥**

शब्दाययेत्यादि । तदुक्तप्रकाराऽनाचाराचरणाद्धेतो **स्तं** ग्राह-रिपु**मभक्ष्य**मभोज्यं मांसादिकं **जगता** लक्षणया लोकेनाऽपि प्रयोज्य-कर्त्रा, **अपिना** तस्याऽऽत्मनस्तु कथैव केति सूच्यते । **भक्षयन्तं** सन्तं **दूतैः** प्रयोज्यकर्तृभि **र्मा शब्दायय** चेतवाणीं मा प्रापय **मा ह्वायया**ऽऽ-

१ ह्वायिशब्दाय्योरणिक्कर्तुर्णिगि कर्मत्वनिषेधाद् दूतैरिति तृतीया । २ भक्षे हिंसनेऽणिक्कर्तुर्णिगि कर्मत्वाभावात्तृतीया । ३ वहेः सारथिकर्तृ-त्वादणिक्कर्त्ता द्विपो णौ कर्म । ४ वहेरसारथिकर्तृत्वादणिक्कर्तुर्णौ कर्मत्वाऽ-भावात् तृतीया ॥ ९ ॥

कारय, बोधनार्थमिति गम्यते। तादृशदुराचारे तयो र्निष्फलत्वस्यैव निश्चयादत्याचारिणि तयो र्नीतिविरुद्धत्वाच्च। किन्तु 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन्नि' ति तन्निग्रहार्थमद्य सम्प्रत्येव, **द्विपान्** गजान् **शारीः** पर्याणादिकं **वाहय** धारय, युद्धाय गजादीन् सज्जयेत्यर्थः। तथा **दण्डनेत्रा** सेनान्या **दण्डचण्डां** दण्डात्मकतयाऽत्युग्रामाज्ञाम्, **नन्ववश्यन्तया वाहय** प्रवर्त्तय। यथाशीघ्रं तं निगृहाणेत्यर्थः॥ ९॥

आततायिनिग्रहो नृपधर्मः, अन्यथा धर्महानिरित्याह—

**विहारयेद्यो जनतां [1] कुवर्त्म**
**विहारयेन्मृत्युपथं हि तेन [2]।**
**अहारयंस्तं किल दण्डमीशः**
**स्वं हारयेद्धर्ममघेन तस्य॥ १०॥**

विहारयेदित्यादि। **योऽत्याचारी** जनो **जनतां** लोकान् **कुवर्त्म**ोत्पथं **विहारयेन्नाययेत्**, **ईशः** प्रभु **र्हि** निश्चयेन **तेनाऽत्या**चारिणा कर्त्रा **मृत्युपथं** प्राणनाशमार्गं **विहारयेन्नाययेत्**। अत्याचारी प्रभुणा हन्तव्य एवेत्यर्थः। **किले**ति पक्षान्तरे राजधर्मसम्वादे। **ईशस्तम**त्याचारिणं **दण्डमहारयन्न**प्रापयन् **स्वं धर्मं** राजधर्मं **तस्या**ऽत्याचारिणो**ऽघेन** पापेन कर्त्रा **हारयेन्ना**शयेत्। यदुक्तम्—" अदण्ड्यान्

---

१–२ हरतेरणिक्कर्त्तुर्णिंगि विकल्पेन कर्मतेति जनतामिति तमिति च द्वितीया, तेनेत्यघेनेति च तृतीया॥ १०॥

दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाऽप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति राज्यान्ते नरकं व्रजेदि" ति ॥ १० ॥

पारलौकिकीं हानिमुक्त्वेदानीमैहलौकिकीं तामाह—

**अप्यन्तकं स्थाम [1] निकारयेत्स**
**निकारयेस्तं यदि नात्मदण्डैः [2] ।**
**उपेक्षिताः स्वं ह्यविकारयद्भिः**
**सद्भिः [3] खलाः कैः [4] न विकारयेयुः ॥ ११ ॥**

अप्यन्तकमित्यादि । **यदि तं** ग्राहरिपुमा**त्मदण्डै** र्दुष्टदण्डन-साधनैः स्वकीयै र्दण्डैर्बलादिभिर्न **निकारये** र्निगृह्य प्रतिकारयेस्तदा **स** ग्राहरिपुः **स्थाम** स्वबलम**न्तकं** सर्वान्तकारिणं यम**मपि निकारयेत्**, स्वबलेन यमनिग्रहेऽपि प्रवर्त्तेतेत्यर्थः । तदा तव का कथेति तस्मिन्न--निगृहीते तवाऽपि ततो भयमित्याशयः । तदेव समर्थयन्नाह—**हि** यतः **स्वं** निजात्मान**मविकारयद्भि**र्विकारमप्रापयद्भिः **सद्भिः** साधुचरितैः, तमहमुपेक्ष्य साम्नैव प्रयोजयद्भिरित्यर्थः । **उपेक्षिताः खलाः कैः** जनैः कर्तृभि **र्न विकारयेयुः ?**, कान् विकारं गच्छतो न प्रेरयेयुः, अपि तु सर्वानेवेशादिसहितानपि विकृतान् विदध्युरित्यर्थः । एतदेव हि खलत्वमिति भावः ॥ ११ ॥

तस्मात्क्षमां विहाय रुडेव भजनीयेत्याह—

१-२-३-४ करोतेरणिक्कर्त्तुर्णौ वा कर्मेति यथायथं द्वितीया तृतीया च ॥११॥

**दुर्नीतिभि [1] र्दर्शयमानमेत- [2]**
**मद्यापि किं दर्शयसे प्रसन्नः ? ।**
**मा मायिनं [3] जात्वभिवादयस्व**
**न्याय्यै [4] र्नयज्ञा ह्यभिवादयन्ते ॥ १२ ॥**

दुर्नीतिभिरित्यादि । **दुर्नीतिभि** र्दुराचरणै **र्दर्शयमानमेत**मवलोकमाना दुर्नीती: कर्त्रीरनुकूलाचरणेन प्रेरयन्तं ग्राहरिपुम्, दुर्नीतयो यथा ख्याताः स्युस्तथा पुनः पुनस्ता एवाऽऽचरन्तमित्यर्थः । **अद्यापि** तद्दुराचरणान्निग्रहकाले समुपस्थितेऽपि **किं प्रसन्नो दर्शयसे ?,** स्वस्मिन् प्रसन्नं त्वां पश्यन्तं तं किमनुकूलाचरणेन प्रेरयसि ? । काक्वा नैतदुचितमित्यर्थः । किञ्चैनं **मायिनं** कपटपटुं ग्राहरिपुं **जातु** कदापि **माऽभिवादयस्व** माययाऽभिवदन्तं प्रणमन्तमेनमनुकूलाचरणेन मा प्रेरयेत्यर्थः । हि यस्मात् **नयज्ञा** नीतिनिपुणा **न्याय्यै** र्न्यायपरायणैः कर्तृभि**रभिवादयन्ते**ऽभिवदतो न्यायिनोऽनुकूलाचरणेन प्रेरयन्ति न तु दुराचारिण इत्यर्थः ॥ १२ ॥

**ननाथ यस्त्वां निशि नाथ ! नाथं**
**तं नाथसे चेद्यशसा [1] मथोच्चैः ।**
**स्ववंशधर्मं स्मरसि स्मृते [2] र्वा**
**चेत्तद्दयस्वेह रुषां [3] क्षमां [4] मा ॥ १३ ॥**

---

१-२-३-४ हृशोरभिवादेश्चाऽऽत्मनेपदविषयस्याऽक्कर्तुर्णिर्णिगि वा कर्मतेति यथायथं कर्तुर्द्वितीया तृतीया च ॥ १२ ॥

१-२-३-४ आत्मनेपदिनो नाथेः स्मृत्यर्थस्य दयतेश्च व्याप्यस्य कर्मता

ननाथेत्यादि । **नाथ!** स्वामिन्! **यः** शम्भुः सोमनाथो **निशि** रात्रौ, स्वप्ने इति बोध्यम् । **त्वां ननाथ** " प्रभासविध्वंसपरेषु तेषु दण्डोशना त्वं भव सज्यधन्वे " त्यादिना ग्राहरिपुनिग्रहं याचितवान्, **तं** सोमनाथं शम्भुं **नाथं चेन्नाथसे** स शम्भु र्नाथो मे भूयादित्येवमाशंससे, **अथ** किञ्चोच्चैरतिमहतां **यशसां** नाथसे--महती कीर्ति र्मे भूयादित्येवमाशंससे तथा **स्ववंशधर्मं** स्वस्य वंशस्य कुलस्य चौलुक्याख्यस्य धर्ममुत्पथगामिनो दण्डनीया इत्येवं गृहीतकर्त्तव्यं **स्मरसि, स्मृतेरनयप्रवृत्ता** दण्डनीया इति राजधर्मसंहिताया **वा चेत्स्मरसि तत्तदेह** ग्राहरिपौ विषये **रुषां** कोपानां **दयस्वाऽऽप्नुहि,** कोपं कुर्वित्यर्थः । **क्षमां** क्षान्ति **मा** दयस्व ॥ १३ ॥

**त्वमेव तस्ये [१] शिष इत्यदिक्ष-**
**दीशान ईट् त्वां तदुपस्कुरुष्व ।**
**बलं [२] श्रियां चाऽस्य वधे रुजेद्धि**
**राज्यस्य [३] राष्ट्रं द्विडुपेक्षणाऽमः ॥ १४ ॥**

त्वमेवेत्यादि । **त्वं** मूलराज **एव** नाऽन्य**स्तस्य** ग्राहरिपो**रीशिषे,** तं निग्रहीतुं समर्थोऽसीत्यर्थः । **इति** अत एव **ईट्** प्रभु**रीशानः** शम्भुः सोमनाथ**स्त्वामदिक्षत्** ग्राहरिपुं निगृहाणेति स्वप्ने *आज्ञापितवानित्यर्थः । अन्यथा तदयोग्ये तद्विधिनिदेशाच्छम्भोरसर्वज्ञत्वा-*

विकल्पेनेति पक्षे षष्ठी ॥ १३ ॥

१-२-३ प्रतियत्नार्थकक्रुगो रुजार्थस्य च व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति यथायथं षष्ठी ॥ १४ ॥

पत्तेरिति भावः । **तत्तस्माच्छम्भोराज्ञाभङ्गो** मा भूत्त्वं च तद्योग्यं मत्वाऽस्य ग्राहरिपो **वधे** वधार्थं **बलं** सैन्य**मुपस्कुरुष्व** विविधास्त्रश-स्त्रादिभिर्विशेषगुणं सम्पादयस्व, किञ्च **धियां** मन्त्रस्योपस्कुरुष्व विशिष्टेन प्रकारेण बुद्धिं प्रयुङ्क्ष्वेत्यर्थः । सहजबुद्ध्या तस्याऽसाध्यत्वा-दिति भावः । " हिंस्रः स्वपापेन विहिंस्यते खल " इति बुद्ध्या तदुपे-क्षणमनुचितमित्याह—**हि** यतो **द्विडुपेक्षणाऽस्मो** द्विष उपेक्षणात्मकोऽस्मो रोगो **राज्यस्य** राजशासनस्य **राष्ट्रं** देशं च **रुजेत्** पीडयेत् । विनाश-येदित्यर्थः । रोगोऽपि ह्युपेक्षितो रोगिणं नाशयति ॥ १४ ॥

अलं विज्ञेषु विज्ञप्तिरित्याह—

**सन्तापयन्तं ज्वरयन्तमुर्वीं** [1]
**तमामयं छेत्तुमलं निदेशैः ।**
**भुवः** [2] **किलोज्जासयदद्रिचक्रं**
**केनेन्द्र उज्जासयितुं नियुक्तः ? ॥ १५ ॥**

सन्तापयन्तमित्यादि । **उर्वीं** महीं लक्षणया प्रजाः **सन्ताप-यन्तं** करभारादिभिर्दुःखाकुर्वन्तं **ज्वरयन्त**मुक्तप्रकारेण पीडयन्तं च **तं** ग्राहरिपुरूप**मामयं** रोगम्, रोगोऽपि हि सन्तापयति तापेनाऽऽकुलयति अङ्गानि व्यथयति चेति भावः । **छेत्तुं** नाशयितुं **निदेशैः** प्रेरणाभिर-स्मदादिकृताभि**रलं** कृतम्, न प्रयोजनमित्यर्थः । ननु कथं तर्हि

१ ज्वरिसन्ताप्योर्वर्जनान्नित्यं कर्मत्वम् । २ जासे र्व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति षष्ठी ॥ १५ ॥

मम प्रवृत्तिः स्यादिति चेत्स्वत एव, विज्ञत्वात्समर्थत्वाच्च । तत्र दृष्टान्तमाह—किलेत्यैतिह्ये । भुवः पृथिव्या उज्जासयत्तत्र तत्र पातेन कृत्वा नाशयदद्रिचक्रं गिरिसमुदयमुज्जासयितुं भेत्तुमिन्द्रः केन नियुक्तो निदिष्टः ? । काक्वा न केनाऽपि, किन्तु विज्ञत्वात्प्रभुत्वाच्च स्वत एव स तत्र प्रवृत्तः । प्रजा उज्जासयतोऽद्रीन् वज्रेणेन्द्रो विदारयामासेति पौराणिकाः ॥ १५ ॥

शत्रुनिग्रहो न कालक्षेपमर्हतीत्याह—

**लोकस्य [1] पिंषन्तमरिं ह्यनुन्ना-**
**टयन्नृपो नाटयति क्षमायाः [2] ।**
**पेष्टा न चेत्तामसि [3] तत्प्रजाना- [4]**
**मुत्क्राथयन्तं क्रथयैनमद्य [5] ॥ १६ ॥**

लोकस्येत्यादि । **लोकस्य** प्रजानां **पिंषन्तं** नाशयन्तम**रिं** द्विषम**नुन्नाटयन्न**निगृह्णन्**नृपः क्षमायाः** पृथिव्याः, तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति लोकस्यैव **नाटयति** हिनस्ति । दण्डाधिकृतःकाले दण्ड्यानदण्डयन् परम्परया प्रजानां नाशकः स एवेति भावः । **चेद्यदि तां** पृथिवीं **पेष्टा** नाशयिता **नाऽसि**, प्रत्युत पालकोऽसि, **तत्तदा प्रजानामुत्क्राथयन्तं** नाशयन्त**मेनं** ग्राहरिपु**मद्य** विनाविलम्बं **क्रथय** निगृहाण । अन्यथा कालविलम्बे रोगिणि मृते किं चिकित्सयेति भावः ॥१६

१-२-३-४-५ हिंसार्थानां नाटक्राथपिषां व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति यथायथं षष्ठी द्वितीया च ॥ १६ ॥ .

**जम्भं [1] यथाऽजीजसदुग्रधन्वा**
**मधुं [2] यथाऽनीनटदब्धिशायी ।**
**पुरं [3] यथाऽचिक्रथदीश एवं**
**निघ्नन्तमुर्व्याः [4] प्रणिजह्यमुं [5] त्वम् ॥ १७ ॥**

जम्भमित्यादि । **यथोग्रधन्वेन्द्रो जम्भं** तदाख्यमसुर**मजीजसद्**धतवान्, **यथाऽब्धिशायी** विष्णु **र्मधुं** तदाख्यमसुर**मनीनटद्**नाशयत्, **यथेशः** शम्भुः **पुरं** त्रिपुरासुर**मचिक्रथन्ना**शितवान्; **एव**मुक्तप्रकारेण **त्वमुर्व्या** लक्षणया लोकस्य **निघ्नन्तं** नाशयन्त**ममुं** ग्राहरिपुं **प्रणिजहि** नाशय । उग्रधन्वादिना जम्भादेरिव त्वया तन्नाशः सुकर आवश्यकश्चेति भावः ॥ १७ ॥

अथ राज्ञोऽपरमन्त्रिप्रेरणमाह—

**श्रुत्वेति वाचं द्विषतां [1] प्रहन्तुं**
**राज्ञा खरादीनिव [2] निप्रहन्त्रा ।**
**मन्त्री दृशा प्रेरित इत्यवोचत्**
**स जम्भको जाम्बवदग्र्यबुद्धिः ॥ १८ ॥**

---

१—२—३ आकारोगान्त्यस्यैव जासेत्यादित्रिशिष्टोक्त्या जासादेर्व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति अत्र तदभावान्नित्यं कर्मत्वम् । ४—५ निप्रपूर्वाद्धन्तेर्व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति यथायथं द्वितीया षष्ठी च ॥ १७ ॥

१—२ व्यस्ताद्व्यत्यस्ताच्च निप्रपूर्वाद्धन्तेर्व्याप्यस्य वा कर्मत्वमिति षष्ठी द्वितीया च ॥ १८ ॥

श्रुत्वेतीत्यादि । **इति** उक्तप्रकारां **वाचं** जेहुलमन्त्रिवाणीं **श्रुत्वा राज्ञा द्विषतां** शत्रूणां ग्राहरिपुप्रभृतीनां **प्रहन्तुं** नाशाय, तेऽग्रय: कथं नाशनीया इत्येवं **खरादीन्** खरदूषणादीन् **निप्रहन्त्रा** नाशयित्रा रामेणेव दशग्रीवादीनां द्विषतां प्रहन्तुं जाम्बवानिव **दृशा** दृक्संज्ञया **प्रेरितः** पृष्टः, जाम्बवानिवाऽग्र्या प्रशस्या बुद्धि र्यस्य स **जाम्बवदग्र्यबुद्धि जम्बकस्तदाख्यो मन्त्री इति** वक्ष्यमाणप्रकारेण **अवोचत्** वक्तुमुपाक्रमत । यथा रामेण पृष्टो जाम्बवान् तथा राज्ञा पृष्टो जम्बको द्विषन्नाशविषये स्वविचारं कथयितुमारभतेत्यर्थः ॥१८॥

जम्बकोक्तिमेवाह—

**न केऽपणायन् सुहृदां** [1] **सुतांश्च** [2]
**व्यवाहरन् वा विभवान** [3] **सूनाम्** [4] ।
**कार्ये प्रभो जेंहुलवत्त्ववादी-**
**त्तथ्यं च पथ्यं च न कश्चिदित्थम्** ॥ १९ ॥

न के इत्यादि । **प्रभोः** स्वामिनः **कार्ये** कार्यनिमित्तं **के** स्वामिभक्ता भृत्यादयः **सुहृदां** मित्राणां ततोऽप्यधिकमिष्टान् **सुतांश्च** **नाऽपणायन्** क्रयविक्रये द्रव्याणीव न नियुक्तवन्तः ?, विनिमेयतां न प्रापितवन्त इत्यर्थः । काक्वा बहव ईदृशा इति व्यज्यते । **वा** तथा मित्रपुत्रेभ्योऽपि प्रियान् **विभवान्** धनानि ततोऽपि प्रियाणा**मसूनां**

१-२-३-४ व्यवपूर्वस्य हरतेः पणायतेश्च व्याप्ययो र्विनिमेयद्यूतपणयो र्वा कर्मत्वमिति यथायथं षष्ठी द्वितीया च ॥ १९ ॥

प्राणानां के न **व्यवाहरन्** द्यूतपणतां न प्रापितवन्त इत्यर्थः। काक्वा बहवोऽपि तादृशा ये स्वामिकार्यार्थं मित्रादिप्राणान्तान् व्ययितवन्त इति व्यज्यते। **तु** विशेषे। किन्तु **जेहुलवदित्थमुक्तप्रकारं तथ्यं** सत्यं च **पथ्यं** हितं च **न कश्चिदवादीत्**। एतेन जेहुलो ज्ञानी स्वामिभक्तशिरोमणिश्चेति ध्वन्यते॥ १९॥

स्वामिकार्येऽसत्याऽहितभाषिणो दूषयन्नाह—

**कीर्तेः [१] प्रदीव्यन्ति कुलं [२] च दीव्य-**
**न्त्यात्मोन्नते [३] स्ते किल ये हि मन्त्रे।**
**दीव्यन्ति कूटं [४] चटुना [५] च लोभ- [६]**
**मध्यासिताः पाप [७] मधिष्ठिताश्च॥ २०॥**

कीर्तेरित्यादि। ये मन्त्रिणो **मन्त्रे** गुप्तविचारे **लोभं** धनादि-लाभेच्छा**मध्यासिता** आश्रिता अत एव **पापं** छलात्मकं दुष्कर्मा**ऽधि-ष्ठिता** आश्रिताश्च **कूटम**सत्यं **चटुना** चाटुकारेण **च दीव्यन्ति** व्यवहरन्ति, लोभाच्छलेनाऽसत्यमहितं च मन्त्रं ददतीत्यर्थः। **ते** तादृशा मन्त्रिणः **किल** वस्तुतः **कीर्तेः** सन्मन्त्रित्वख्यातेः **कुलमुच्चैर्गोत्रं** च स्वं **प्रदीव्यन्ति** विनिमेयतां नयन्ति, **आत्मोन्नतेः** स्वाऽभ्युदयस्य

---

१-२ सोपसर्गस्य दीव्यते र्व्याप्यस्य वा कर्मसंज्ञमिति षष्ठी द्वितीया च। ३ निरुपसर्गस्य दीव्यतेः कर्मत्वं नेति षष्ठी। ४-५ दीव्यतेः करणस्य कर्मत्वं चेत्येकत्र द्वितीयाऽन्यत्र तृतीया। ६-७ अधेरासेस्तिष्ठतेश्चाऽऽधा-रस्य कर्मत्वम्॥ २०॥

**च दीव्यन्ति** द्यूतपणतां नयन्ति, हि तदेतत्स्फुटम् । कीर्तिं कुलं च विगोपायन्ति, आत्मोन्नतिं च रुन्धन्तीत्यर्थः । धनादीनि लभन्ते कीर्त्यादीनि च जहतीति धनादिभिः कीर्त्यादीनि विनिमयन्ते पणायन्ति वेति सारार्थः ॥ २० ॥

अथ स्वामिकार्ये सत्यवादिनं स्तौति—

**भर्त्तुः स चेतो [1] ऽधिशयीत सोऽधि-**
**वसेत्सभामावसतां [2] च मौलिम् [3] ।**
**गुरोः समीपं [4] स उपोषितश्च**
**ब्रूयात्सदो [5] ऽनूषितवान् स्फुटं यः ॥ २१ ॥**

भर्त्तुरित्यादि । यः **सदो** मन्त्रणागृह**मनूषितवा**नधिष्ठितः सन् **स्फुटमृ**ज्वक्षरं **ब्रूयात् स भर्त्तुः** स्वामिन **श्चेतोऽधिशयीता**ऽधिवसेत् । भर्त्तुर्मनोज्ञः स्यादित्यर्थः । **स सभामावसता**माश्रितानां **मौलि**मुत्तमाङ्गं मुकुटं चा**ऽधिवसेत्** । लोकानां मौलिरिव स सभ्यानां मुख्यः स्यादित्यर्थः । तथा **स** एव **गुरोः समीपमुपोषितः** कृतवासो न त्वनीदृशः, गुरौ वासफलस्य तत्रैवोपलम्भादिति भावः । स्पष्टवक्ता भर्त्तुः प्रियः सभ्यमूर्धन्यश्च भवति, गुरूपासनायाः स्फुटवक्तृत्वमेव फलमिति च सारार्थः ॥ २१ ॥

१ अधेः शीङ आधारस्य कर्मता । २–३–४–५ उपाऽन्वध्याङ्वसतेराधारस्य कर्मता ॥ २१ ॥

स्वां सत्योक्तिप्रतिज्ञामाह—

**तत्तेऽर्थशास्त्रे [1] ऽभिनिविष्टबुद्धे-**
**र्वदाम्यमिथ्याऽभिनिविश्य पार्श्वम् [2] ।**
**गोदोह [3] मीशे त्रुटि [4] मप्युदास्ते**
**य आस्यते द्राग् नरकं [5] हि तेन ॥ २२ ॥**

तत्ते इत्यादि । **तत्** सत्याऽसत्ययोरुक्तगुणदोषफलत्वाद्धेतोः, **अर्थशास्त्रे** राजनीतावभि**निविष्टबुद्धेः** अभिनिविष्टा सम्यक्कृताऽवगाहा निपुणा बुद्धिर्यस्य तादृशस्य **ते** तव स्वामिनः **पार्श्वं** समीपम**भिनिविश्य**ाऽध्यास्याऽ**मिथ्या** सत्यमेव **वदामि** । न विज्ञे कूटसाफल्यमिति स्वामिपार्श्वस्थितिनिर्वाहाय च त्वदग्रे मिथ्यावाचोऽनवकाशात्सत्यमेव वदामि, तस्या उक्तदोषादवश्यहेयत्वाच्च मादृशां विवेकिनां महत उपसेविनामिति हृदयम् । ननु मौनं सर्वार्थसाधनमिति तूष्णीकएवाऽऽस्तामिति चेन्न, अवसरत्यागेऽनर्थसम्प्राप्तेरित्याह—**य ईशे** लक्षणयेशकार्ये **गोदोहं** गौ र्दुह्यते यावता कालेन तावन्तं कालमपि, किं बहुना, **त्रुटिं** लवमात्रं कालम**प्युदास्ते** उपेक्षते, अनवहितो भवतीत्यर्थः । **तेन** नरेण **द्राग्** झटित्येव **नरकमास्यते** स्थीयते । हीति

१–२ अभिनिविशेराधारस्य व्यवस्थितविभाषया कर्मत्वमित्येकत्राऽऽधारत्वमेव । ३–४–५ अकर्मकाऽऽसधातुयोगे भावकालदेशानामाधाराणां कर्मत्वम् । कर्मत्वाकर्मत्वे युगपच्च । तेन नरकमास्यत इति सकर्मत्वाद्द्वितीयाऽकर्मत्वाच्च भावे प्रत्ययः ॥ २२ ॥

श्रौत्ये । सोऽवश्यं नरकं यातीत्यर्थः । तस्मादवसरे सत्यमवश्यवक्तव्यमिति भावः ॥ २२ ॥

सम्प्रति वस्तुतो ग्राहरिपो दुःसाध्यत्वमाह—

**क्रोशे [१] गिरि र्योजन [२] मब्धिरस्य**
**दुर्गं स्वपुर्यां [३] वसतोऽस्त्यमुं तत् ।**
**समुत्थितं निश्यपि [४] शालिपाकेऽ [५]-**
**प्यशायिनं मा स्म मथाः सुसाधम् ॥ २३ ॥**

क्रोश इत्यादि । **अस्य** ग्राहरिपोः **स्वपुर्यां** स्वनगरे वामनस्थलीनाम्न्यां **वसत**स्तिष्ठतःसतो **गिरी** रैवताद्रिः**क्रोशे** क्रोशपरिमितमार्गान्ते, अतिसमीपेऽस्तीत्यर्थः । **अब्धिः** समुद्रो **योजनं** योजनपरिमितमार्गान्तस्थः, सन्निहित एव नातिदूर इत्यर्थः । तदेवं गिरिरब्धिश्च **दुर्ग**मगम्यं स्थानं तन्नगरसमीप इति गिरिसमुद्ररक्षिता तन्नगरी दुर्गम्येत्यसाध्येति भावः । न केवलं तस्याश्रयबलमेव, किन्तु स्वयमपि स सदा जाग्रदित्याह— **शालिपाके** शालयः पच्यन्ते यावता कालेन तावति कालेऽ**प्यशायिनं** निद्रामलभमानम्, अनलसं रक्षाविषये इत्यर्थः । **अमुं** ग्राहरिपुं **सुसाधं** स्वं विहाय दण्डनेत्रादिनैवाऽल्पोपायेन सुखेन साध्यत इति तं तादृशं **मा स्म मथा** अबुद्धाः । दुर्गबलसम्पन्न उद्यमी सततं जाग्रच्च न सुसाध्य इत्यर्थः ॥ २३ ॥

---

१–२–३–४–५ अकर्मकधातुयोगे मार्गादेः क्रोशादेराधारस्य वा कर्मत्वमिति यथायथं सप्तमी द्वितीया च ॥ २३ ॥

**गोदोह[१] मप्युद्यममत्यजन्तो**
**भजन्त्यहोरात्रममुं[२] नृपास्तत् ।**
**क्रोशाञ्[३] शतं सैन्यपतिं दिशंस्त-**
**द्वधाय[४] दात्रेण[५] तरुं लुनासि ॥ २४ ॥**

गोदोहमित्यादि । **गोदोहं** यावता कालेन गौर्दुह्यते तावन्तं कालम**प्युद्यममत्यजन्तः**, सततोद्यताः सन्त इत्यर्थः । **नृपा** अधीना राजानोऽ**मुं** ग्राहरिपु**महोरात्रं** नक्तन्दिवम्, अविरतमित्यर्थः । **भजन्ति** सेवन्ते । एतेन बलसम्पदुक्ता । **तत्त**स्माद्धेतोः **क्रोशाञ् शतं** क्रोशशतं दूरे इत्यर्थः । एतेन तत्र गतस्य सेनान्योऽवसरे तव साहाय्यं दुर्लभमिति सूच्यते । **तस्य** ग्राहरिपोर्**वधाय सैन्यपतिं** सेनान्यं **दिशन्** व्यापारयन् **दात्रेण** तरुलवनाऽयोग्येन शस्त्रविशेषेण कृत्वा **तरुं** वृक्षं **लुनासि** च्छेत्तुं व्यवस्यसि । यथा दात्रेण तरुलवनमशक्यं तथा तादृशस्य तस्य सेनान्या वधोऽशक्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

ननु तर्हि किं कर्तव्यमिति चेत्तत्राह—

**जयाय[१] चेत्त्वं स्पृहये यशो[२] वा**
**लोकाय[३] कुप्यन्तमसूयमानम् ।**

---

१–२–३ सकर्मकधातुप्रयोगेऽपि कालादेराधाराद्यातौ गम्यायां नित्यं कर्मत्वमिति मतान्तरेणैषु कर्मत्वं बोध्यम् । ४ सम्प्रदाने चतुर्थी । ५ करणे तृतीया ॥ २४ ॥

१–२ स्पृहे र्व्याप्यस्य वा सम्प्रदानत्वमिति यथायथं चतुर्थी द्वितीया

**द्रुह्यन्तमीर्ष्यन्तममुं** [४] **स्वयं तत्**
**प्रद्रोग्धुमुत्क्रुध्य कृताभियोगः ॥ २५ ॥**

जयायेत्यादि । **त्वं चेज्जयाय यशो वा स्पृहयेः,** जयं कीर्तिं वेच्छसीत्यर्थः । **तत्तदा लोकाय** प्रजाभ्यः **कुप्यन्तं** क्रुध्यन्तमसूयमानं लोकस्यैव गुणेषु दोषानाविष्कुर्वाणं तस्मा एव **द्रुह्यन्त**मपचिकीर्षन्तम**मीर्ष्यन्तं** लोकसम्पदमसहमान**ममुं** ग्राहरिपुं **प्रद्रोग्धुं** हन्तुं **स्वयं** न तु दण्डनेत्रादिना **कृताऽभियोग** उद्योगमधिष्ठितः सन्नुत्क्रुध्य तं क्रोधविषयं कुर्वित्यर्थः । स्वयं तमभिषेणयेति यावत् । तादृशाऽपकारिषु बलवत्सु सत्सु मन्दोत्साहो नोचित इति हृदयम् ॥ २५ ॥

दृष्टान्तद्वारेण निजोक्तिं द्रढयन्नाह—

**सिंहो निकुञ्जा** [१] **दभिसृत्य यूथा-** [२]
**द्गन्तीभमुद्दामतमं मृगेभ्यः** [३] **।**
**याना** [४] **त्स्वयं मा विरम प्रमाद्य**
**मा मा जुगुप्सस्व जगत्ततो** [५] **ऽवन्॥ २६ ॥**

सिंह इत्यादि । **सिंहो निकुञ्जा**ल्लतादिपिहितोदराद्व**नादभिसृत्य** निर्गत्य, स्वयमभियायेत्यर्थः । **मृगेभ्य** इतरवन्येभ्य **उद्दामतमं** बलिष्ठमुच्छृङ्खलं **चेभं** गजं **यूथान्मृग**समूहान्निष्कृष्य **हन्ति** ।

च । ३ क्रुधाद्यर्थकधातुप्रयोगे चतुर्थी । ४ सोपसर्गयोः क्रुधिद्रुहोः प्रयोगे सम्प्रदानतानिषेधाद् द्वितीया ॥ २५ ॥

१-२-३ यथाक्रमं निर्दिष्टविषयोपात्तविषयाऽपेक्षितक्रियाऽपादानानि । ४-५ बुद्धिकृतमपादानत्वं बोध्यम् ॥ २६ ॥

पराक्रमिणां स्वयं पराक्रमो दृष्ट इति भावः । **ततो** ग्राहरिपोः **जगत्-प्रजा अवन्** रक्षन् सन्, ग्राहरिपोः प्रजारक्षणविधावित्यर्थः । **स्वयं यानाद**भियानात्, महान् श्रमोऽत्रेति विरज्य **मा विरम** निवर्त्तस्व, **मा प्रमाद्य** दण्डनेत्रादिभिरेवैष साध्य इत्यालस्यं मा गाः । तथा **मा जुगुप्सस्व** हीनोऽयं महानुभावस्य ममाऽभियातुमयोग्य इति कुत्सामारोप्य मा निवर्त्तस्व । किन्तु बलवान् दुराचारी चाऽयं मयाऽवश्यं वध्य इत्युत्साहं प्राप्नुहीत्यर्थः ॥ २६ ॥

बलवानप्येकोऽयमकिञ्चित्कर इति भ्रमनिरासायाह—

**युधो [1] ऽपराजिष्णुररे [2] रभीरु-**
**स्त्राता तुरुष्कानपि कच्छदेशात् [3] ।**
**कुतो [4] ऽप्यनन्तर्दधदस्य सोऽस्ति**
**लक्षः सखा जात इवैकमातुः [5] ॥ २७ ॥**

युध इत्यादि । **अस्य** ग्राहरिपोः, **युधो** रणाद**पराजिष्णुर**ग्लास्नुः, युधि सोत्साह इत्यर्थः । तथाऽ**रेः** शत्रो र्बलवतोऽपि **अभीरुर**त्रस्नुः, कुतोऽप्यरे र्भयमप्राप्नुवन्नित्यर्थः । **कच्छदेशात् तुरुष्कानपि,** आसतामन्ये नृपाः, महाबलशालिनस्तुरुष्कानपि **त्राता** रक्षकः, निवारयितेत्यर्थः । तुरुष्काणां कच्छदेशाक्रमणप्रतिरोधक इत्याशयः । **कुतोऽपि** कस्मादपि **अनन्तर्दधद**निलीयमानः, अनश्यन्नित्यर्थः, अत एव तादृशैरवदातगुणैः **स** प्रसिद्धो **लक्ष**स्तदाख्यः कच्छेश **एकमातु-**

---

१–२–३–४–५ सर्वत्र बुद्धिकृतमपादानत्वं बोध्यम् ॥ २७ ॥

**जातः सोदर इवाऽतिप्रीतिमान् सखा** मित्रमस्ति । एवञ्चाऽयं नैकोऽसहाय इति न सेनान्या निग्राह्य इति भावः ॥ २७ ॥

ननु सखाऽपि लक्षो दूरस्थत्वान्न साहाय्यं कर्त्तुमीश्वर इति चेत्तत्राह—

**कच्छा[१] त्सुराष्टाऽष्टसु योजनेषु**
**दीपोत्सवः पक्ष इवाऽऽश्वयुज्याः[२] ।**
**फुल्ला[३] त्प्रभूतो न तदस्य दूरे**
**स्थाम्नाऽधिको भूमिपतिभ्य[४] उर्व्याम्[५] ॥ २८ ॥**

कच्छादित्यादि । **आश्वयुज्या** आश्विनपूर्णिमायाः **पक्षे**ऽर्धमासे गते **दीपोत्सवो** दीपमालिकेव **कच्छा**त्तदाख्यदेशाद**ष्टसु योजनेषु** गतेषु **सुराष्ट्रा** तदाख्यदेशो भवति । **तत्**तस्माद**स्य** ग्राहरिपोः, **उर्व्याम्** पृथिव्यां **भूमिपतिभ्यो** नृपेभ्यः **स्थाम्ना** बलेन कृत्वाऽ**धिकः** बलवत्तम इत्यर्थः । **फुल्ला**त्तदाख्यनृपात्**प्रभूतो** जातः, फुल्लनृपपुत्र इत्यर्थः । **लक्षाख्यो नृपो दूरे न,** अप्रतिमबलशालित्वात्समये स समीपस्थ इवाऽष्टौ योजनान्युलङ्घ्य ग्राहारेः साहाय्यं कर्त्तुमीश इत्याशयः ॥ २८ ॥

न च तौ द्वावेवेति भ्रमः कार्य इत्याह—

---

१–२ अत्र गते गम्येऽपायः सुप्रतीत इत्यपादानत्वम् । ३–४ अत्र बुद्धिसंसर्गपूर्वकमपायमाश्रित्याऽऽपादानत्वम् । ५ वैषयिकाधारे सप्तमी ॥२८॥

येऽद्रौ [१] समुद्रे [२] च नृपा दधानाः
क्षत्रत्वमात्म [३] न्युषिता दृगग्रे [४] ।
तेऽप्यस्य संवर्मयितार आजौ [५]
नैको न च द्वौ बहवो द्विषस्तत् ॥ २९ ॥

येऽद्रावित्यादि । ये यत्प्रकारा **नृपा आत्मनि** स्वस्मिन् **क्षत्रत्वं** क्षत्रियगुणं पराक्रमादिकं **दधाना** आश्रयन्तः सन्तोऽ**द्रौ** पर्वते च **समुद्रे** लक्षणया तत्समीपदेशे **चोषिता** अधिष्ठिताः सन्ति, तथा येऽ**स्य** ग्राहरिपो **दृगग्रे** नेत्रगोचरदेशे, पार्श्व एव तं सेवमाना इत्यर्थः, उषिताः सन्तीति सम्बध्यते । **ते** सर्वे **आजौ** त्वया सह युद्धे, तन्निमित्तमित्यर्थः । **संवर्मयितारः** सन्नद्धा भविष्यन्ति, तत्पक्षाऽश्रितत्वादिति भावः । तत्तस्मादयं ग्राहरिपु **नैको** नाऽसहायः, **न च द्वौ** स लक्षश्चेति द्वावेव न, किन्तु **बहवो द्विषः** सन्ति । तस्मात्सेनान्या असाध्यः सः, प्रभूतसहायत्वादिति भावः ॥ २९ ॥

तस्मात्त्वैव साध्योऽयं नाऽन्यस्येति स्फुटमाह—

मित्रं [१] नृपेन्द्र ! समया निकषाऽथ दुर्गं [२]
यः सोऽप्यलंभवति किं पुनरन्तरा ते [३] ।

---

१ औपश्लेषिक आधारः । २ सामीप्यकाधारः । ३ अभिव्यापकाधारः । ४ औपचारिकाधारः । ५ नैमित्तिकाधारः ॥ २९ ॥

१-२-३-४-५-६ समयानिकषाऽन्तराऽन्तरेणशब्दयोगे द्वितीया ॥ ३० ॥

**तत्तं निहन्तुमवनीं** [४] **दिव** [५] **मन्तरेण**
**त्वा** [६] **मन्तरेण नहि सम्प्रति कश्चिदीशः ॥ ३० ॥**

मित्रमित्यादि । **नृपेन्द्र! यो मित्रं समया** समीपे भवेत्, **अथ** किञ्च **दुर्गं** पर्वतसमुद्रादिदुर्गमभूमिं **निकषा** समीपे भवेत्**सोऽप्ये**-कतरसमीपस्थोऽप्य**लं** समर्थो भवति, स्वरक्षण इति बोध्यम् । **ते** मित्रदुर्गे **अन्तरा** मध्ये यो भवेत्**स किम्पुनः ?**, सोऽलं भवतीति किमु वक्तव्यम् । द्वाभ्यामेव रक्षणात्स समर्थतम इति स्फुटमिति भावः । **तस्माद**तिबलिष्ठत्वात्सहायसमग्रत्वाच्च **तं** ग्राहरिपुं **निहन्तुं** वधायाऽ-**वनीं** पृथिवीं **दि**वमाकाशं **चाऽन्तरेण** मध्ये, द्यावापृथिव्योर्मध्य इत्यर्थः । **त्वां** मूलराज**मन्तरेण** विना **सम्प्रति कश्चिन्नहीशः** प्रभुः । तस्मात्स्वयमेवाऽभियाहि तमिति भावः ॥ ३० ॥

ननु यः केनाऽप्यसाध्यः स मया साध्यः कथमिति शङ्कां निराकुर्वन्नाह—

**तेनाऽऽभीरान** [१] **येन सुराष्ट्रा** [२] **मतिवृद्धः**
**पार्थ** [३] **स्थाम्ना त्वं चलितश्चेत्समराय ।**
**हा प्राणेशान्** [४] **धिग्विधि** [५] **मेवं प्रलपेयु-**
**र्वैरिस्त्रैणानीति विभो! मां** [६] **प्रति भाति ॥ ३१ ॥**

तेनेत्यादि । **आभीरान्** ग्राहरिपुप्रभृतीन् **तेनाऽभिलक्ष्य सुराष्ट्रां**

१–२–३–४–५–६ लक्षणार्थकयेनतेनाभ्यामतिक्रमणार्थकाऽतिशब्देन हा-धिक्प्रतिशब्दै र्योगे च यथाक्रमं द्वितीया ॥ ३१ ॥

तदाख्यदेशं **येनाऽभिलक्ष्य पार्थमर्जुनमति**, पार्थस्याऽतिक्रमेणेत्यर्थः। **स्थाम्ना** बलेन कृत्वा **वृद्धोऽधिकः**, पार्थादप्यधिकबलवानिति मिलितार्थः। **त्वं समराय** युद्धाय **चलितश्चेत्** प्रस्थितो यदि भवसि, **विभो! प्रभो!** त्वयि चलितमात्र एव, **हा प्राणेशान् धिग्विधिमित्येवं वैरिस्त्रैणानि** वैरिस्त्रीवर्गः **प्रलपेयुः** प्रलापान् कुर्युरिति मां **प्रति भाति**, एवं मम बुद्धिः स्फुरति। तव पार्थादप्यधिकबलत्त्वेन वैरिस्त्रीणां स्वपति-मृत्युनिश्चयात्प्रागेव प्रलपितुमारभेरंस्ता इत्याशयः। त्वं पार्थवदेवाऽ-प्रतिविधेयोऽरिहन्ता चेति तवाऽग्रे को नाम ग्राहरिपुः ससहायोऽपीति त्वया शङ्का न विधेयेति तात्पर्यम् ॥ ३१ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

**उपर्युपरि भूभृतो [१] ऽध्यधि वना [२] न्यधोऽधोऽम्बुधीन् [३]**
**द्विषोऽभिगदितेऽमुना पुलकभृद्वपुः [४] सर्वतः।**
**भुजा [५] वुभयतः क्षिपन् द्रुममथो उदस्थान्नृपः**
**स्थितौ तम [६] भितश्च तौ परित उत्थितस्ताञ् [७] जनः ॥३२**

उपर्युपरीत्यादि। **भूभृतः** पर्वतानुपर्युपरि, **पर्वतसमीप** इत्यर्थः। **वनान्यध्यधि** वनप्रत्यासन्नदेशे, **अम्बुधीनधोऽधः** समुद्र-समीपे च **द्विषो** ग्राहरिपुप्रभृतयः शत्रवः **सन्तीत्यमुना जम्बकेनाऽ-भिगदिते** उक्तप्रकारेण वर्णिते सति **वपुः सर्वतः** शरीरस्य **सर्वेषु**

१–२–३ द्विरुक्तोपर्युपर्यधोऽधोऽध्यधिशब्दयोगे द्वितीया। ४–५–६–७ तसन्तसर्वोभयाऽभिपरिशब्दयोगे द्वितीया ॥ ३२ ॥

भागेषु, सर्वाङ्गं व्याप्येत्यर्थः। **पुलकभृद्** हृष्टरोमा। शत्रुस्मरणेन तद्विजिगीषया जातोत्साहवशात्सात्त्विकभावोदयात्सर्वाङ्गेषु रोमाञ्चाञ्चित इत्यर्थः। **भुजावुभयतो** द्वयोर्बाह्वो **दृशं** दृष्टिं **क्षिपन्** कुर्वन्, यस्य कस्याऽपि शत्रोर्निग्रहे समर्थौ मे भुजाविति दर्पेण तौ दृष्ट्या सम्मानयन्नित्यर्थः। **नृपः उदस्थात्**सिंहासनादुत्थितवान्। **अथो** अनन्तरं **तं नृपमभितः** उभयतः स्थितौ निषण्णौ **तौ** जेहुलजम्बकौ सचिवौ **उदस्थाताम्**। **तान्** नृपाऽमात्यान् **परितः** सर्वतः सभागृहाद्बहिः स्थितो **जनश्चो**त्थितवान्। सभा विसृष्टेति यावत्। अत्र नृपस्य पुलकेन भुजावलोकनेन च प्रस्थाननिश्चयो ध्वन्यते ॥ ३२ ॥

अथ दिग्विजययात्राभूमिकामारचयन्नादावनुकूलत्वाच्छरदं वर्णयन्नाह—

**अथ [१] द्यामभि शुभ्राऽभ्रा सुनीराऽभि सरःसरः [२]।**
**अभि दिग्विजयं [३] साधुरुपतस्थे शरत्क्षणात् ॥ ३३ ॥**

अथेत्यादि। **अथ** ग्राहरिपुमभि यानमन्त्रणानन्तरं **द्यां** व्योम **अभि** लक्षीकृत्य, व्योम्नीति यावत्। **शुभ्राभ्रा** शुभ्राणि वर्षर्तौ वृष्टत्वान्न्यूनजलतया विशदान्यभ्राणि मेघा यस्यां सा, धवलजलधरखण्डमण्डिता, **सरःसरः** तडागं तडाग**मभि** व्याप्य, वीप्सायां द्विरुक्तिः। **सुनीरा** स्वच्छसलिला। अल्पातपत्वात्सुलभपेयजलत्वाच्च दिग्यात्रानुकूलेत्याशयः। अत एव **दिग्विजयं** लक्षणया दिग्विजययान-

१–२–३ यथाक्रमं लक्षणवीप्स्येत्थम्भूतार्थेषु अभिशब्दयोगे द्वितीया ॥३३

**मभि** लक्षीकृत्य । तद्विषय इत्यर्थः । **साधुरनुकूला,** साधुत्वप्रकारमापन्नेत्यर्थः । **शरत्तदाख्यर्त्तुः क्षणात्सद्य इवोपतस्थे** आविर्भूता । नृपमुपचरितुं समागतेव । एतेन विधेये साधनसाकल्यसौलभ्यात्कार्यसिद्धिः, नृपस्य महान् प्रभावो यदृतवोऽपि तदभिप्रायाऽनुसारिण इति च सूच्यते ॥ ३३ ॥

**बभ्रुः प्रति नृपं [1] ग्रामपतिं [2] पर्यनु कर्षकम् [3] ।**
**प्रति ग्रामं [4] दिशं [5] पर्यनु क्षेत्रं [6] सस्यसम्पदः ॥ ३४ ॥**

बभुरित्यादि । **ग्रामं** ग्रामान्, जातावेकत्वम् । **प्रति** लक्षीकृत्य **दिशं** दिशः **परि** लक्षीकृत्य **क्षेत्रं** केदारम**नु** लक्षीकृत्य **सस्यसम्पदः** सस्यसमृद्धिः **नृपं** प्रति नृपाणां भागे, **ग्रामपतिं परि** ग्रामण्यां भागे **कर्षकं** कृषिकर्मणाम**नु** भागे च **बभ्रुः** प्रभूततया विरेजुः । ग्रामे ग्रामे दिशि दिशि क्षेत्रे क्षेत्रे च सस्यानि यथायोग्यं कर्षकग्रामणीनृपाणां भागेषु प्रचुरतराणि जातानीत्यर्थः । आदौ क्षेत्रपतित्वात्कर्षकाणां भागे सस्यानि प्रचुराणि, अतएव ग्रामभूस्वामित्वाद् ग्रामण्यां तत्र प्रचुरो भागः कररूपतया प्राप्तः । तत एव च राष्ट्रपतित्वान्नृपाणां भागे तानि प्रचुराणि । साक्षात्परम्परया च क्षेत्रस्वामित्वात्तेषां प्रत्येकं सस्येषु भागादिति बोध्यम् ॥ ३४ ॥

---

१-२-३ भागिनि प्रतिपर्यनुभिर्योगे द्वितीया । ४-५-६ लक्षणे प्रतिपर्यनुभिर्योगे द्वितीया ॥ ३४ ॥

**प्रतीभमिभ १ मन्वश्वमश्वं २ गां गां ३ च पर्यसौ ।**
**साधुः प्रति मद ४ मनु पालनं ५ बलितां ६ परि ॥ ३५ ॥**

प्रतीभमित्यादि । **असौ** शरत्, **इभमिभं** गजं **प्रति**, गजमभिव्याप्येत्यर्थः । **मदं प्रति** मदोद्भवमभिलक्ष्य, मदोद्गमविषय इत्यर्थः । **अश्वमश्वमनु** अश्वमभिव्याप्य, **पालनमनु** पालनं लक्षीकृत्य, रक्तस्रावादिरूपचिकित्सयाऽश्वानां नीरोगताऽऽपादनरूपपालनविषय इत्यर्थः । **गां गां परि** वृषभानभिव्याप्य **बलितां** बलिष्ठतां **परि** लक्षीकृत्य, बलग्रहणविषय इत्यर्थः । **साधुरनु**कूला, अभूदिति शेषः । शरदि हि कालमाहात्म्याद्गजा माद्यन्ति, अश्वा विशेषचिकित्सया नीरोगतां गच्छन्ति, वृषभादयश्च नवपलालादिभक्षणेन हृष्टाः पुष्टा बलिष्ठाश्च जायन्ते इति तात्पर्यम् ॥ ३५ ॥

**सरो १ ऽन्ववसितान्यब्जा २ न्यन्वेयु र्यत् सितच्छदाः ।**
**तेनर्त्तवोऽनु शरद ३ मुपगङ्गा ४ मिवाऽऽपगाः ॥ ३६ ॥**

सर इत्यादि । **सरोऽनु** सरोभिः सह, जातावेकत्वम्, अनुः सहार्थ इति बोध्यम् । **अवसितानि** सम्बद्धान्यब्जानि कमलानि **अनु** । अत्रानुर्हेतौ । तथा च सरोभिः सह सम्बद्धैः कमलै र्हेतुभि-

---

१–२–३ वीप्स्ये यथायोगं प्रत्यादियोगे द्वितीया । ४–५–६ इत्थम्भूते प्रत्यादियोगे द्वितीया ॥ ३५ ॥

१–२ सहार्थे हेतौ चानुना योगे द्वितीया । ३–४ हीनेऽर्थेऽनुना योगे उत्कृष्टाद् द्वितीया ॥ ३६ ॥

रिति मिलितार्थः। सरःसु कमलानां विजृम्भणाद्धेतोरिति यावत्। **सितच्छदा** हंसा **यद्यस्मादेयुरागताः**, शरदीति लभ्यते। वर्षर्तौ मेघभयान्मानसं गता हंसाः पुनः शरदि पश्चादागच्छन्तीति कविसमयः। **तेन** हेतुना **शरदं** तदाख्यमृतु**मनु ऋतवो** हेमन्ताद्याः, शरदपेक्षया हेमन्ताद्या हीनाः, तत्र सितच्छदानामनागमनात्कमलानां नाशादशोभनत्वाच्चेत्याशयः। **गङ्गामुप आपगा** नद्य **इव**, यथा नद्यो गङ्गाया हीनास्तथेत्यर्थः। अनूपावपकर्षे। यो हि महतं आगमयति शोभासम्पन्नश्च स एव महानिति भावः॥ ३६॥

**शालीन्[१] पक्कान् सप्रमोदं[२] रक्षन्त्यो गोपिका दिनम्[३]।**
**क्रोशं[४] व्यस्तारयन् गीती नाऽर्ति गोदोह[५] मप्ययुः॥३७॥**

शालीनित्यादि। **गोपिकाः** शालिगोप्त्र्यो **दिनं** व्याप्य, अखिलं दिनमित्यर्थः। **पक्वान्** परिणतान् शालीन् कलमादिधान्यानि, शरदि शालीनां पाकादिति भावः। तादृशपक्वशालिदर्शनेन **सप्रमोदं** सोल्लासं यथा स्यात्तथा। क्षेत्रे पक्वशालिदर्शनेन क्षेत्रपतीनां प्रमोदः सहजः, श्रमसाफल्यादिति भावः। **रक्षन्त्यः** शुकादिभ्यो गोपायन्त्यः, **गीतीर्गानानि क्रोशं** व्याप्य **व्यस्तारयन्**, तथोच्चैर्गायन्ति स्म यथा क्रोशं यावच्छ्रुतिरित्यर्थः। यद्वा गोपिकाः पक्वान् शालीन् रक्षन्त्यः सप्रमोदं दिनं क्रोशं गीतीर्व्यस्तारयन्नित्यन्वयः। अखिलं दिन-

---

१ कर्मणि द्वितीया। २ क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया। ३–४ व्याप्तौ द्वितीया। ५ मतान्तरेण व्याप्तौ द्वितीया॥ ३७॥

मुच्चैर्गायन्त्य एव तस्थुरित्यर्थः। **गोदोहं** गावो दुह्यन्तेऽस्मिन् काले तं सायंकालमभिव्याप्याऽपि, यद्वा गावो दुह्यन्ते यावता कालेन तावन्तं कालमपि, **अर्तिं** गानखेदं **न ययुः** प्रापुः। सप्रमोदं यद्विधीयते तत्र न खेदानुभव इति भावः ॥ ३७ ॥

**पारायणं नवाहेना[१] ऽधीत्य क्रोशेन[२] चाऽऽशिषम् ।**
**गोदोहेन[३] द्विजा याज्यानभ्यषिञ्चन् यथाविधि ॥ ३८ ॥**

पारायणमित्यादि। **द्विजा** ब्राह्मणा **नवाहेना**ऽऽश्विनशुक्ले प्रतिपदात आरभ्य नवमीं यावन्नवाहानि व्याप्य **पारायणं** पारोऽय्यते गम्यतेऽनेनेति तद्दुर्गासप्तशतीदेवीभागवतादिक**मधीत्य** पाठेन समाप्य, **क्रोशेन** यावता कालेन क्रोशो गम्यते तावन्तं कालं व्याप्याऽऽ**शिषमा**-शीर्मन्त्रं च, **अधित्योच्चार्य गोदोहेन** यावता कालेन गौर्दुह्यते तावन्तं कालं व्याप्य **यथाविधि** विधिपूर्वकं **याज्यान्** नृपादीन् यजमानान् **अभ्यषिञ्चन्** अभिषेकमन्त्रेणाऽभिषेकं चक्रुः। शरदि द्विजा आश्विनशुक्ले प्रतिपदात आरभ्य कुम्भं यथाविधि स्थापयित्वा नवाहं यावद्दुर्गासप्तशत्यादिपारायणं कुर्वन्ति साशीर्वचनं यजमानानभिषिञ्चन्ति शुभोदर्काय। तत्र प्रायेणाऽऽशीर्मन्त्रोच्चारणे यावताकालेन क्रोशो गम्यते तावान्, अभिषेके च यावताकालेन गौर्दुह्यते तावान्कालश्चाऽत्येतीति बोध्यम् ॥ ३८ ॥

१—२ फलसिद्धौ गम्यायां कालाऽध्वनोस्तृतीया। ३ फलसिद्धौ भावादपि तृतीयेति मतान्तरम् ॥ ३८ ॥

**अधीयानै र्दिन [१] मपि च्छन्दो नाऽग्राहि माणवैः [२] ।**
**गोपीगीत्या [३] हृदोद्भ्रान्तैः [४] समेन [५] विषमेण [६] च ॥३९॥**

अधीयानैरित्यादि । **माणवै** र्विप्रवटुभि **र्दिनम**खिलं दिनमभिव्याप्याऽ**पि समेन** समवृत्तेन लक्षणया सुपाठ्येन स्थानकेन, सरलेन प्रकारेण वा, कृत्वा, **विषमेण** विषमवृत्तेन लक्षणया कठिनपाठ्येन स्थानकेन, श्रमसाध्येन प्रकारेण वा कृत्वा, **च**ः समुच्चये । **अधीयानै**रभ्यासं कुर्वाणैरपि, **गोपीगीत्या** शालिगोप्त्रीगानेन हेतुना **हृदा** मनसा **उद्भ्रान्तै**रस्थिरैः, गोपीगीताकर्णनाकाङ्क्षाचञ्चलचित्तैः सद्भिरित्यर्थः । छन्दो वेदो **नाऽग्राहि** नाऽभ्यस्तम् । वेदो न कण्ठस्थीकृत इत्यर्थः । अन्यमनस्केन बह्वप्यभ्यस्यमानं न कण्ठगतं भवति शास्त्रमिति तात्पर्यम् । अत्र गीतानां मनोहरत्वं ध्वन्यते ॥ ३९ ॥

**धान्येनाऽ [१] र्थ इतीन्द्रस्य मासा [२] पूर्वं पयोमुचः ।**
**कौतुकेना [३] ऽर्थिनः पौराः स्तम्भेना [४] ऽद्राक्षुरुत्सवम् ॥४०॥**

धान्येनेत्यादि । **पौरा** नागराः **कौतुकेन** कुतूहलेन हेतुना **अर्थिनो**ऽभिलाषुकाःसन्तः, **धान्येन अर्थः** प्रयोजनं विद्यते **इति** अतः, धान्यादिप्रयोजनसिद्धये क्रियमाणमित्यर्थः । **पयोमुचः** लक्ष-

---

१ सिद्ध्यभावाद् व्याप्तौ द्वितीया । २ कर्त्तरि तृतीया । ३ हेतौ तृतीया । ४-५-६ करणे तृतीया ॥ ३९ ॥

१-२-३ विद्यत्यादिक्रियाध्याहारेण कर्तरि करणे हेतौ वा तृतीया । ४ इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया ॥ ४० ॥

णया घनागमस्य **मासा** मासेन **पूर्व**मग्रे, पश्चादित्यर्थः । “पूर्वं तु पूर्वजे । प्रागग्रे श्रुतभेदे च” ति हैमः । वर्षर्त्तोर्मासानन्तरमाश्विनपूर्णिमायामित्यर्थः । **इन्द्रस्य** देवेन्द्रस्य **स्तम्भेन** ध्वजादिभूषितेनोत्तुङ्गवंशादिदण्डरूपेणोपलक्षितम्, **उत्सवमद्राक्षुः** । आश्विनशुक्लाऽष्टमीतः प्रारभ्य पूर्णिमां यावद्धान्यादिप्राचुर्यार्थमिन्द्रमहोत्सवो विधीयते ॥ ४० ॥

**मित्रै मासावरै [1] र्वाचा [2] निपुणैः सह गोकुले ।**
**गुडेन [3] मिश्रं वेषेण [4] श्लक्ष्णा गोपाः पयः पपुः ॥ ४१ ॥**

मित्रैरित्यादि । **गोपा** गोकुलस्वामिनो जना **वेषेण** नेपथ्येन **श्लक्ष्णाः** सूक्ष्मा मृदवश्च, धृतमृदुदुकूला इत्यर्थः । सन्त इति शेषः । **गोकुले** व्रजे **मासा** मासेनाऽवरै र्लघुभिः, सवयोभिरित्यर्थः । **वाचानिपुणैः** वाक्पटुभि**र्मित्रैः** सखिभिः **सह** सम्भूय **गुडेने**क्षुविकारविशेषेण **मिश्रं** संस्कृतं **पयो** दुग्धं जलं वा **पपुर**पिबन् । शरदि हि हितं सूक्ष्मांशुकं गुडमिति भिषजः ॥ ४१ ॥

**दाण्डायां गिरिणा [1] काणाः खण्डाः शष्कुलया [2] मिथः ।**
**ग्राम्या युवतया [3] ऽनूना मुष्टिभिः [4] कलहं व्यधुः ॥ ४२ ॥**

दाण्डायामित्यादि । **युवतया** यौवनेनाऽ**नूना** अन्यूनाः, युवान

---

१–२–३–४ कृतादिक्रियाध्याहारेण कर्त्तरि करणे, हेतौ वा तृतीया ॥ ४१

१–२–३–४ कृताद्यध्याहारेण कर्त्तरि करणे हेतौ वा तृतीया ॥ ४२ ॥

इत्यर्थः । **ग्राम्या** ग्रामभवा जनाः **दाण्डायां** दण्डप्रहरणसाध्यायां शङ्कुलाकन्दुकक्रीडायां **गिरिणा** कन्दुकेन कर्त्रा **काणा** एकाक्षा **इव कृताः,** शङ्कुलाहतेनोच्छलितेन कन्दुकेनाऽक्ष्याघातान्मुद्रितैकाक्षेण कन्दुकाऽवलोकनादिति भावः । तथा **शङ्कुलयाऽनृज्वग्रया यष्ट्या खण्डाः** पङ्गव इव कृताः, कन्दुकस्खलितया शङ्कुलया पादेष्वाघातात्कुण्ठगतयः कृताः पङ्गव इवेति भावः । **मिथः** परस्परं **मुष्टिभिः कलहं** युद्धं **व्यधुः** । परस्परं विप्रियं प्राप्ताः क्रुद्धा मुष्टिभिरेव प्रहृत्य कलहं चक्रुरित्यर्थः । शरदि दाण्डा क्रीडा प्रवर्त्तते । तत्र च शङ्कुलया मिथो विरुद्धं कन्दुक आहन्यते ॥ ४२ ॥

**पुलिनानि सह क्षौमैः** [१]
**सरांसि नभसा** [२] **समम् ।**
**ज्योत्स्न्योऽमाऽह्ना** [३] **ऽमिषन्मेघाः**
**साकं कैलाससानुभिः** [४] **॥ ४३ ॥**

पुलिनानीति । **पुलिनानि** नदीतटानि **क्षौमैः** दुकूलैः **सह अमिषन्नस्पर्धन्त,** सादृश्यादिति भावः । शरदि हि नदीतटेषु वर्षाम्बुप्रवाहक्षालनया विशदता क्रमशो नदीपूरस्य नीचैर्गमनात्तत्क्रमेणैव सैकतेषु तरङ्गपदानि च दृश्यन्ते, तथा जनाः शरदि क्षौमाणि वासांसि शुभ्राणि वलिततरङ्गितानि च धारयन्ति । **सरांसि** तडागा वर्षाऽभावात् स्थिरजलतया निर्मलजलानि नीलाभानि भवन्तीति साद-

१-२-३-४ सहार्थयोगे तृतीया ॥ ४३ ॥

श्यामानि **नभसा** व्योम्नाऽपगतवेगेनाऽतिनिर्मलेन नीलाभेन **समम**मिषन् । एवं **ज्यौत्स्न्य**श्चन्द्रिकाचाव्यो रात्रयः शारद्यो निर्मलप्रकाशसद्भावाद् **अह्ना** दिनेन **अमा** सहाऽमिषन् । दिनवत्तासामपि निर्मलप्रकाशत्वात् । किञ्च **मेघाः कैलाससानुभिः** कैलासाद्रेः शिखरैः, सहाऽमिषन् । रिक्तजलत्वान्मेघानां कैलासशिखरवदेव शुभ्रत्वात् । पुलिनानि क्षौमवन्निर्मलानि तरङ्गितसैकतानि च सरांसि नभोवन्निर्मलानि नीलाभानि च रात्रयो दिनवदधिकप्रकाशा मेघाश्च कैलासशिखरवच्छुभ्राः शरद्यजायन्त इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

**बन्धूकान्यधरैः[१] स्त्रीणां पद्मानि युगपन्मुखैः[२] ।**
**सार्धं हासैश्च[३] काशानि स्पर्धां न्यक्षेण[४] चक्रिरे ॥ ४४ ॥**

बन्धूकानीत्यादि । **बन्धूकानि** तदाख्यपुष्पविशेषा रक्ताभत्वा**स्त्रीणां** युवतीनामधरैरधरोष्ठैः, सहेति गम्यते । **पद्मानि** विकचानि कमलानि **मुखै** र्वदनै **र्युगपत्सह,** स्त्रीणामिति सम्बध्यते । तासामेव **हासै** र्हास्यैः **सार्धं काशानि** काशपुष्पाणि । हासः शुक्ल इति कविसमयः । **न्यक्षेण** समग्रतया सह **स्पर्धा**मभिभवेच्छां **चक्रिरे** विदधिरे, अपास्पृधुरित्यर्थः । शरदि हि तानि भवन्ति, यथाक्रमं च स्त्रीणामधरमुखहासतुल्यानि चेति स्त्रीसादृश्यमत एव प्रीतिसम्पादकत्वं च शरदो ध्वन्यते । अत्र प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनमतिसादृश्याय ॥ ४४ ॥

---

१-२-३-४ सहार्थे गम्ये तद्योगे च यथायथं तृतीया ॥ ४४ ॥

**कात्स्न्येंना १ ऽब्जवनोद्भेदे सुखेना २ ऽस्थुः सितच्छदाः ।**
**दुःखेना ३ ऽब्दजले प्राप्ये कष्टेना ४ ऽऽसंश्च चातकाः ॥४५॥**

कात्स्न्र्येनेति । शरदि **कात्स्न्र्येन** सामस्त्येन सह **अब्जवनोद्भेदे** अब्जानां कमलानां वनानां समूहानामुद्भेदे विकासे सति **सितच्छदा** हंसाः **सुखेना**ऽक्लेशेन **अस्थु**स्तिष्ठन्ति स्म । भोज्यस्य प्राचुर्यात्सौ-लभ्याच्चेति भावः । वर्षर्तौ तु तद्दौर्लभ्याद् दुःखेनेत्याकूतम् । **किन्तु अब्दजले** अब्दस्य मेघस्य जले वृष्टे जलबिन्दौ **दुःखेन** वर्षस्याल्पत्वा-त्कदाचित्**प्राप्ये** लभ्ये, दौर्लभ्ये सति । शरदि हि कदाचिदेव मेघा वर्षन्तीति भावः । **चातकास्त**दाख्या वर्षोदबिन्दुमात्रवृत्तयः पक्षिवि-शेषा वृत्तिदौर्लभ्यात्**कष्टेन** कष्टपूर्वकम**आसन्**नस्थुः । सर्वो हि वृत्ति-सौकर्ये सुखी तद्दौष्कर्ये च दुःखी भवति । शरदि हि कमलानि विक-चानि हंसाःसुखमग्ना वर्षदौर्लभ्यं चातककूजितानि च जातानि ॥४५॥

**सस्येष्वाप्येष्वनायासेना १ ऽऽप्येऽनायास २ मम्बुनि ।**
**पान्थाः पथि सुखं ३ प्रोषु दुंःख ४ मूषुश्च तत्प्रियाः ॥ ४६ ॥**

सस्येष्वित्यादि । **सस्येषु** क्षेत्रगतेषु धान्येषु **अनायासेन** सुखेन **आप्येषु** प्राप्येषु सत्सु । शरदि सस्यानां पाकात्तानि सुलभा-नीति भावः । तथा **अम्बुनि** जलेऽ**नायासं** सुकरतयाऽऽ**प्ये** प्राप्ये

१ सहार्थे तृतीया । २-३-४ एष्वपि क्रियया सुखादेः सहार्थ इति तृतीया ॥ ४५ ॥

१ सहार्थे तृतीया । २-३-४ क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया ॥ ४६ ॥

सति । **सर्वत्रैव** निर्मलजलसद्भावादिति भावः । **पान्था** अध्वगाः **पथि** मार्गे **सुखं** यथास्यात्तथा **प्रोषुः** प्रवासं कृतवन्तः । प्रवासे हि पथ्यशनपानसौलभ्यं सुखमिति भावः । किन्तु, **तत्प्रियास्तेषां** पान्थानां प्रियाः प्रियतमाः स्त्रियो **दुःखं** यथा स्यात्तथा **ऊषुस्तिष्ठन्ति-स्म** । प्रियविरहो हि प्रियाया दुःखहेतुरिति भावः । शरदि सस्यानि जलानि च सुलभानि भवन्ति, वर्षाऽपगमात्पान्थाः सौकर्यात्सुखं प्रवसन्ति, अत एव तत्स्त्रियो विरहाकुलास्तिष्ठन्तीति ॥ ४६ ॥

**जात्यो [१] ग्रोऽनु तिमीन् वप्रे-**
**ऽस्थात्प्रकृत्या [२] शठो बकः ।**
**अक्ष्णा [३] काणः पदा [४] खञ्जः**
**खलाः प्रायेण [५] मायिनः ॥ ४७ ॥**

जात्येत्यादि । **जात्या** जन्मनो**ग्र**श्चण्डः, जन्मन एव निर्दय इति यावत् । मत्स्यादिहिंसासाध्यवृत्तिकयोनावुत्पत्तेरिति भावः । तथा **प्रकृत्या** स्वभावेन **शठो** वञ्चकः, मत्स्या मा ज्ञासिषुरिति शनैश्चारादि-मत्स्यवञ्चनव्यापारपटुरित्यर्थः । **तादृशो बक**स्तदाख्यः पक्षिविशेषः, **वप्रे** नदीतडागादितटे **तिमीन्** मत्स्या**ननु** लक्षीकृत्या**ऽक्ष्णा** नेत्रेण **काणः** जलान्तर्मत्स्यं द्रष्टुं दृष्टेरेकत्र लक्ष्ये स्थिरीकरणाय सङ्कोचितैक-कनेत्रत्वात्काणवदुपलक्ष्यमाणः । जलाऽन्धकाराद्यन्तरितं वस्तु द्रष्टुं

---

१-२-३-४-५ प्रकारवतः प्रकारैः प्रकारवदर्थयुजः ख्यातेः प्रकार-वतस्तृतीया ॥ ४७ ॥

दृष्टिस्थिरीकरणायैकाक्षसङ्कोचः प्रतीत इति बोध्यम् । तथा **पदा** चरणेन **खञ्जः** पङ्गुवदुपलक्ष्यमाणः । पङ्गुवदेव शनैर्विकृतं च पादन्यासादिति भावः । तादृशः **सन्नस्थात्** । तत्समर्थयति--**खला** उग्राः **प्रायेण** बाहुल्येन **मायिनः** शठाः, भवन्तीति शेषः । शरदि सरित्सरःपल्वलादितटेषु मत्स्यानत्तुं बकाः सञ्चरन्ति ॥ ४७ ॥

**गोत्रेण [१] पुष्करावर्त्त ! किं त्वया [२] गर्जितैः [३] कृतम् ? ।**
**विद्युताऽलं [४] भवत्वद्भि [५] हंसा ऊचुर्न्विदं घनम् ॥ ४८ ॥**

गोत्रेणेत्यादि । **गोत्रेण** कुलेन **पुष्करावर्त्त !** पुष्करावर्त्ताख्यख्यातकुलोत्पन्न ! मेघ !, **त्वया किम् ?,** किमिति क्षेपे । न त्वया किमपि प्रयोजनमित्यर्थः । किं कृतमलंभवत्वित्याद्यव्ययं प्रतिषेधे प्रयुज्यते । तथा तव, **गर्जितैः** स्तनितैः **कृतम्**, निष्प्रयोजनं गर्जितमित्यर्थः । **विद्युता** तडिताऽ**लम्** । तडिन्निष्प्रयोजनेत्यर्थः । **अद्भि** जलै **भवतु**, जलं निष्प्रयोजनमित्यर्थः । **वर्षर्त्तौ** प्रचुरवृष्टिजलाकाङ्क्षाऽभावादिति भावः । अत एव, अवसराऽपगमान्निष्फलत्वाच्च मेघादिनाऽलमिति बोध्यम् । **इदमुक्तप्रकारं** वचनं **हंसा घनं** मेघम्**ूचुर्नु** कथितवन्त इव । कथमन्यथा ते उच्चै रुवन्ति मेघादयश्च शनैः । शरदि हंसा रुवन्ति, मेघादीनां चाऽल्पतेति तात्पर्यम् ॥ ४८ ॥

---

१ प्रकारवतः प्रकारैः प्रकारवदर्थयुजः ख्यातेः प्रकारवतस्तृतीया । २-३-४-५ निषेधे कृतादियोगे तृतीया ॥ ४८ ॥

**मघाभिः [१] पायसं श्राद्धं मघासु [२] ब्रह्मचर्यवत् ।**
**श्रुत्या [३] स्मृतौ [४] च प्रसिता विदधुर्विधिनो [५] त्सुकाः ॥४९॥**

मघाभिरित्यादि । द्विजा इति प्रस्तावाल्लभ्यते । **श्रुत्या** वेदे **स्मृतौ** मनुयाज्ञवल्क्याद्युक्तधर्मसंहितायां च **प्रसिता** नित्यसम्बद्धाः, श्रुतिस्मृत्यभ्यासपरायणा इत्यर्थः । अत एव, **विधिना** विहितकर्मणि **उत्सुका** अत्यन्तं व्यापृताः, यथाविधि विहितकर्मपरायणा इत्यर्थः । अधीतवेदादि हिं विहितकर्मपरायणो भवतीति भावः । **मघासु** चन्द्रयुक्तमघायुक्तकाले **ब्रह्मचर्यवत्** ब्रह्मचर्यमिव, **मघाभि**श्चन्द्रयुक्तमघानक्षत्रयुक्तकाले **पायसं** पयःसंस्कृतान्नसम्पाद्यं **श्राद्धं** पितृकर्म **विदधु**श्चक्रुः । शरदि पितृपक्षे द्विजाः श्राद्धं कुर्वन्ति ब्रह्मचर्यं च पालयन्ति ॥ ४९ ॥

**उत्सुकाः करदाने [१] ऽव-**
**बद्धाः कृष्या [२] पशुष्व [३] पि ।**
**व्रीहीन् द्विद्रोणान् द्विद्रोणान्**
**द्विद्रोणैश्च [४] तिलान् ददुः ॥ ५० ॥**

उत्सुका इत्यादि । **कृष्या** कृषौ, क्षेत्रकर्षण इत्यर्थः । **पशुषु**

---

१–२ काले नक्षत्रवाचिन आधारे वा तृतीया, पक्षे सप्तमी । ३–४–५ प्रसितादियोगे आधाराद्वा तृतीयेति यथायथं तृतीया सप्तमी च ॥ ४९

१–२–३ उत्सुकादियोगे यथायथं तृतीया सप्तमी च । ४–५ व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वा तृतीया, पक्षे द्वितीया ॥ ५० ॥

गोमहिष्यादिष्वपि, **अवबद्धाः** तत्पराः **करदाने** करो राजग्राह्यो भागस्तद्दाने **उत्सुकास्**तत्पराः, प्रस्तावात्कर्षका इति लभ्यते। कर-भुक्त्यै, **द्विद्रोणान् द्विद्रोणान्**, वीप्सायां द्विरुक्तिः। आढकचतुष्टयानाढकचतुष्टयान् **व्रीहीन्** धान्यानि **द्विद्रोणै** र्द्विद्रोणान् द्विद्रोणान् **तिलांश्च ददुः**। प्रस्तावात्करोद्ग्राहकराजपुरुषेभ्य इति गम्यते। तृतीययैव वीप्साया उक्तत्वान्न द्विरुक्तिः। शरदि सस्यनिष्पत्तौ कर्षकाः करं ददति ॥ ५० ॥

**क्रौञ्चान् सहस्रं सहस्रं**
**पञ्चकेना[1]ऽन्वजीगणन्।**
**सहस्रेण[2] शुकान् गोप्यः**
**पञ्चकं पञ्चकं रसात् ॥ ५१ ॥**

क्रौञ्चानित्यादि। **गोप्यः** शालिगोप्त्र्यो युवतयः **सहस्रं सहस्रं** सहस्रशः **क्रौञ्चान्** तदाख्यपक्षिविशेषान् **रसात्** पक्षिसमूहदर्शनजन्याद् हर्षात्कौतुकाच्च **पञ्चकेन** पञ्चसङ्ख्यापरिच्छिन्नक्रौञ्चकराशिना, एकैकराशौ पञ्च पञ्च क्रौञ्चान् कृत्वेत्यर्थः। मनोविनोदार्थमिति बोध्यम्। **अन्वजीगणन्** गणयामासुः। न केवलं क्रौञ्चानेव, किन्तु **सहस्रेण** सहस्रसङ्ख्याकान् सहस्रसङ्ख्याकान् **शुकान्** कीरानपि **पञ्चकं पञ्चकं** पञ्चानां राशिं पञ्चानां राशिमन्वजीगणन्। एतेन शरदि क्रौञ्चानां शुकानां च बाहुल्यं सूच्यते ॥ ५१ ॥

---

१–२ द्विद्रोणादिस्वाद्वीप्सायां तृतीया ॥ ५१ ॥

**संजानाना गुणैः [१] प्रेम [२] संजानन्तः पुरा रतेः [३] ।**
**संप्रायच्छन्त दासीभि [४] र्व्रीहीन् ग्रामीणदारकाः ॥ ५२ ॥**

संजानाना इत्यादि । **ग्रामीणदारकाः** ग्रामीणानां ग्राम्याणां कर्षकप्रभृतीनां दारकाः पुत्राः, ग्राम्ययुवान इत्यर्थः । **गुणै**र्दासीनां यौवनलावण्यादिभि र्विशेषैः **प्रेम** रागं **संजानाना** जानन्तः, यत्र हि यौवनलावण्यादिकं तत्रैव प्रेम ग्राम्याणामिति तेषां यौवनादिकमेव प्रेम नत्वन्यदज्ञत्वादित्याकूतम् । तथा **पुरा** पूर्वं दासीष्वनुभूताया **रतेः** सम्भोगस्य **संजानन्तः** स्मरन्तः, पक्वेषु शालिषु व्रीहीन् दास्यामीति पुरा रतिकाले प्रतिज्ञातं स्मरन्त इत्यर्थः । तादृशाः सन्तः **दासीभि**-र्दासीभ्यो **व्रींहीन्** धान्यानि **संप्रायच्छन्त** ददुः । रतिवेतनरूपेण परितोषार्थं वेति बोध्यम् । ग्राम्या हि धर्माऽनभिज्ञा अधर्म्यामपि दासीं स्मयन्ति, शरदि शालिपाकाच्च व्रीह्यादिदानेन ताः परितोषयन्ति च ॥ ५२ ॥

**सम्प्रायच्छद् बिसं हंस्यै [१] हंसो यत्तन्मुदे [२] ऽभवत् ।**
**आत्मने [३] रोचनाल्लब्धं कस्मै [४] न स्वदतेऽथ वा ॥ ५३ ॥**

---

१–२ सम्पूर्वस्य जानातेरस्मृत्यर्थस्य व्याप्याद्वा तृतीयेति यथायथं तृतीया द्वितीया च । ३ स्मृत्यर्थत्वात्तृतीया नेति षष्ठी । ४ सम्प्रपूर्वस्य दाम उद्देश्यस्याऽधर्म्ये तृतीया ॥ ५२ ॥

१ अधर्म्याऽभावात्सम्प्रदाने चतुर्थी । २ तादर्थ्ये चतुर्थी । ३–४ रुच्यर्थानां योगे प्रेये चतुर्थी ॥ ५३ ॥

सम्प्रायच्छदित्यादि । **हंसो यद् बिसं** मृणालं **हंस्यै** स्वप्रियायै **सम्प्रायच्छद्दौ तत्** हंसदत्तं बिसं **तन्मुदे** तस्या हंस्या मुदे हर्षायाऽ**भवत्** । तत्समर्थयन्नाह—**अथवेति** । **आत्मने** स्वस्मै **रोचनात्** रोचते इत्येवंशीलो रोचन स्तस्मात्प्रियाल्लब्धं प्रेम्णा प्राप्तं किमपि वस्तु, **कस्मै न स्वदते** रोचते । काक्वा प्रियेण लब्धं सर्वस्याऽपि मुदे जायते इत्यर्थः । शरदि हंसानामागमात्तत्केलिरपि प्रवर्त्तते ॥५३॥

**जज्ञे स्वात्यम्बु मुक्ताभ्यो [१] दुग्धं दध्ने [२] न्वकल्पत ।**
**रिक्तोऽपि न ययौ मेघः शरदे [३] धारयन् ऋणम् ॥५४॥**

जज्ञे इत्यादि । **स्वात्यम्बु** स्वातौ लक्षणया स्वातिनक्षत्रयुक्त--सूर्ययुक्तकालेऽ**म्बु** वृष्टं जलं **मुक्ताभ्यो जज्ञे** मुक्तारूपविकारमापन्नम् । स्वात्यम्बु शुक्तिमुखे पतितं मुक्ता सम्पद्यत इति लोकप्रसिद्धिरिति बोध्यम् । न्विन्त्युपमायाम् । यथा **दुग्धं** क्षीरं **दध्नेऽकल्पत** दधिरूपविकारमापन्नं तथेत्यर्थः । शरदि दुग्धं दधि च कालान्तराऽपेक्षया प्रशस्तं च भवति । किञ्च **रिक्तोऽपि** जलरहितोऽपि **मेघः शरदे** तदाख्यर्त्तवे **ऋणं धारयन्निवेति** लुप्तोत्प्रेक्षा । **न ययौ** किन्तु तस्थावेव । ऋणग्रस्तो ह्युत्तमर्णाऽधीनो भवतीति ऋणमधमर्णो धरति, तच्च तच्छोधनाऽशक्तत्वाद्धारयन्निवेत्यर्थः । ततश्च यथा ऋणं धारयन् तदविशोध्य न गच्छति, रिक्तत्वात्तच्छोधनाऽशक्तेः, तथा मेघोऽपि

१–२ क्लृप्यर्थयोगे विकारे चतुर्थी । ३ धारेर्योगे उत्तमर्णे चतुर्थी ॥ ५४ ॥

ऋणं धारयन्निव रिक्तोऽपि न ययावित्यर्थः। शरदि मेघा भवन्ति, जलरिक्तत्वाद्वर्षन्ति नेतीत्थमुक्तिः ॥ ५४ ॥

**ध्वानैः प्रत्यशृणोन्मैत्रीं शिखिभ्यो[1] ऽनुगृणन् घनः।**
**तस्मै[2] प्रतिगृणन्तस्तेऽप्याशृण्वन् केकयाऽथ ताम् ॥ ५५ ॥**

ध्वानैरित्यादि। **घनो** मेघो **ध्वानैः** स्तनितैः कृत्वा **शिखिभ्यो** मयूरेभ्योऽ**नुगृणन्**नुवदन्, मयूरोक्तमनुवदन्निव केकारवं कुर्वतो मयूरान् प्रोत्साहयन्निव वा तेभ्यस्तैरेव **मैत्रीं** सातिशयां प्रीतिं **प्रत्यशृणोत्** प्रतिज्ञातवान्, स्वीचकारेवेत्यर्थः। लुप्तोत्प्रेक्षा। एवमग्रेऽपि। शरदि घनध्वनिकेकयोः सन्तति जायत इतीत्थमुक्तिः। **अथ** पुनः, ततः एव, **तस्मै** घनाय **केकया** स्ववाण्या केकाख्यया **प्रतिगृणन्तो** घनोक्तमनुवदन्त इव गर्जन्तं तं प्रोत्साहयन्त इव वा **ते** मयूरा **अपि** तथैव तस्मै **तां** **मैत्रीमाशृण्वन्** प्रतिज्ञातवन्तः, स्वीचक्रुरिवेत्यर्थः। यद्यपि शरद्यपि मेघध्वनिः केकिकेका च, तथापि वसन्तभिन्नकाले सतोऽपि कोकिलकूजितस्य वर्णनमिव कविसमयविरुद्धम्। अथाऽपि बहुभिः कविभिरादृतमिति भावनीयम् ॥ ५५ ॥

**रात्स्यन्ति देवतास्तुभ्यं[1] नाथ! किं मह्य[2] मीक्षसे।**
**एवमाराधयन् सांयात्रिकेभ्यः[3] कुलयोषितः ॥ ५६ ॥**

---

१–२ प्रत्याङ्पूर्वश्शृणोते र्योगे प्रत्यनुपूर्वगृणातेर्योगे चाऽर्थिन्याख्यातरि च चतुर्थी ॥ ५५ ॥

१–२–३ राधीक्ष्योस्तदर्थकधातोश्च प्रयोगे यद्विषयं पर्यालोचनं प्रिमति-

रात्स्यन्तीत्यादि । **नाथ !** स्वामिन् !, यद्यपि देशान्तरं गन्तुं कृतनिश्चयस्य तव योगक्षेमौ संशयामहे, तथाप्याशंसे यत्, **तुभ्यं** देशान्तरं गच्छतस्तव योगक्षेमविषयं दैवं **देवता** इष्टदेवाः, वनदेवताजलदेवतादयश्च **रात्स्यन्ति** पर्यालोचयिष्यन्ति । देवतास्तव योगक्षेमं वक्ष्यन्तीत्यर्थः । **मह्यं किमीक्षसे ?**, किमितिक्षेपे । मह्यं नेक्षितव्यमित्यर्थः । मम विरहे कथमियं भवितेति संशय्य मम क्षेमादिविषयं दैवं किं निरूपयसि ? तव योगक्षेमयोर्ममाऽपि तन्निश्चयादिति भावः । **एवमुक्तप्रकारेण कुलयोषितः** कुलस्त्रियः **सांयात्रिकेभ्यः** पोतवणिग्भ्य **आराधयन्** संशय्य क्षेमादिविषयं दैवं पर्यालोचयन् । देवेषु श्रद्धाऽतिशयात्सविश्वासमूचुरित्यर्थः । कुलीनत्वादिति बोध्यम् । नत्वकुलीना इव क्षेमादिविषयं दैवं संशय्य यात्रां निषेधयामासुरिति भावः । यद्वा **देव !** देववदाराधनीय ! नाथ ! **ता** मत्सपत्न्य **स्तुभ्यं रात्स्यन्ति** त्वं कदा गन्तेति विकल्प्य तव गमनं पर्यालोचयिष्यन्ति, तासामकुलीनत्वादिति भावः । **मह्यं किमीक्षसे ?** अस्याः कीदृशोऽभिप्राय इति संशय्य किं निरूपयसि ?, मम कुलीनत्वात्त्वां विना मम क्षणमपि स्थितिर्दुःसहेति त्वं नैव याहीत्येव ममाऽभिप्रायो नाऽत्र संशयः कार्य इत्येवं **कुलयोषितः सांयात्रिकेभ्यस्**तेषामभिप्रायं विकल्प्य **आराधयन्** पर्यालोचयन्नित्यर्थः ॥ ५६ ॥

---

पूर्वकं ततश्चतुर्थी ॥ ५६ ॥

**असाधयन्न पुत्रेभ्यो[1]**
**दारेभ्यो[2] दद्दशु र्न च ।**
**प्रोषु लाभाय[3] राध्यन्तो-**
**ऽपश्यन्तः श्रान्तये[4]ऽध्वगाः ॥ ५७ ॥**

असाधयन्नित्यादि । **अध्वगाः** प्रवासिनः **पुत्रेभ्यो नाऽसाधयन्** मयि प्रोषिते कथमेते भविष्यन्तीति विमतिपूर्वकं पुत्रादिक्षेमादिविषयं दैवं न पर्यालोचयन् । तथा **दारेभ्यश्च न दद्दशुः**, मद्विरहे इयं कथं भविष्यतीति विमतिपूर्वकं दारक्षेमादिविषयं दैवमपि न पर्यालोचयन् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह—**लाभाय राध्यन्तः**, वाणिज्यादिना विकल्पपूर्वकं लाभविषयं दैवमेव पर्यालोचयन्तः, अत एव **श्रान्तये** प्रवासजनितश्रमाय **अपश्यन्तो** विकल्प्य भाविश्रमविषयं दैवमपर्यालोचयन्तः **प्रोषुः** प्रवासं कृतवन्तः । लाभलोभाभिभूतो लाभायैव पश्यति यतते चेति भावः । शरदि वणिजादयो व्यापारार्थं देशान्तरं यान्ति ॥ ५७ ॥

**लोहिनीव तडिज्ज्योत्स्ना तापाय[1] विरहे हि तत् ।**
**स्त्रैणं स्म श्लाघते पत्ये[2] तिष्ठते शपते ह्नुते ॥ ५८ ॥**

---

१–२ राधीक्ष्यर्थधातुयोगे चतुर्थी । ३–४ राधीक्ष्यर्थविषयादपि इति मते चतुर्थी ॥ ५७ ॥

१ उत्पातेन ज्ञाप्ये चतुर्थी । २ श्लाघादिधातुयोगे ज्ञीप्स्यमानाच्चतुर्थी ॥ ५८ ॥

लोहिनीवेत्यादि । हि यस्माद् **विरहे** प्रणयकलहादिना मानादिप्रयुक्तेऽसङ्गे सति **ज्योत्स्ना** चन्द्रिका **लोहिनी** रक्ताभा **तडिद्** विद्युदि**व** कामवृद्ध्या तदप्राप्तिजनिताऽऽकुलत्वाय, विद्युत्पक्षे आतपायेत्यर्थः । लोहिनी विद्युदातपनिमित्तमुत्पात इति निमित्तविदः । आसीदिति शेषः । **तत्** तस्मात् **स्त्रैणं** स्त्रीसमूहः **पत्ये** प्रियाय **श्लाघते स्म तिष्ठते** स्म **शपते** स्म **ह्नुते स्म** । समुच्चयो गम्यः । मानिन्यो ज्योत्स्नया कामोद्दीपनान्मानं विहाय, पतिः प्रार्थयत्विति-कामनया वक्रोक्त्यादिभिः श्लाघया स्वप्रशंसया 'अहमन्याभ्यो गुणैरधिका त्वयि नितान्तमनुरक्ता चे' त्यादिना गुणवत्तया ज्ञाप्यं पतिं ज्ञापयन्ति स्म, स्थानेनाऽनुरागरिरंसादिसूचकेन स्थितिविशेषेणाऽनुरक्तां रिरंसुं ज्ञाप्यं स्वं पतिं ज्ञापयन्ति स्म, शपथेन सम्भाव्यमानाऽ-पराधनिराकरणपूर्वकमनपराधिनं ज्ञाप्यं स्वं पतिं ज्ञापयन्ति स्म, निह्नवेन प्राक्कृतमानाद्यपलापेन रिरसुं ज्ञाप्यं स्वं पतिं ज्ञापयन्ति स्मेत्यर्थः । शरदि ज्योस्ना कामोद्दीपिका ॥ ५८ ॥

**पाकाय [१] प्रयता जग्मु र्नीवारेभ्य [२] स्तपस्विनः ।**
**चतुर्मासोपवासेऽपि नेयु ग्रामं [३] पुराय [४] वा ॥ ५९ ॥**

पाकायेत्यादि । **तपस्विन** श्चतुर्मासोपवासादितपःप्रधानास्तापसा उपवासान्ते पारणार्थं **पाकाय** नीवारादीन् पक्तुं **प्रयता** आश्रि-

१ तुमोऽर्थे चतुर्थी । २ गम्यस्य तुमो व्याप्ये चतुर्थी । ३-४ गत्यर्थयोगेऽप्राप्ते द्वितीयाचतुर्थ्यौ ॥ ५९ ॥

तोयमाः सन्तः, तेषामसङ्ग्रहशीलत्वात् स्वयंपाकित्वाच्चेति भावः । **नीवारेभ्यो** मुन्यन्नान्याहर्तुं **जग्मुः** गतवन्तः । जीर्णजलाशयादाविति बोध्यम् । तत्रैव नीवारलाभादिति ध्येयम् । किन्तु **चतुर्मासोपवासे** चतुर्षु मासेषु भवश्चतुर्मासो य उपवासोऽनशनात्मकं तपस्तस्मिन् सत्यपि । चतुरो मासान् यावदनशनं विधायाऽपीति यावत् । **ग्रामं पुराय वा नेयुः** ग्रामं पुरं वोत्तमभिक्षार्थं न जग्मुरित्यर्थः । अपिनाऽल्पोपवासे तु कथैव केति सूच्यते । तापसा हि केचिच्चतुर्मासोपवासं कुर्वन्ति, वन्यैरेव चान्नैस्तत्पारयन्ति च, नतूत्तमभिक्षार्थं ग्रामपुरादिकं यान्ति । तेषामतिनैष्ठिकत्वात् । शरदि नीवाराः प्रायेण भवन्ति तापसाश्च तपः पारयन्ति ॥ ५९ ॥

**चित्रां [१] स्वाते [२] विशाखायै [३]**
**गन्तुं भानोस्त्विषाऽर्दिताः ।**
**यान्तोऽध्वान [४] ममन्यन्त**
**न शुने [५] स्वं न वा बुसम् [६] ॥ ६० ॥**

चित्रामित्यादि । **अध्वानं** मार्गं **यान्तो** व्रजन्तः, अध्वगाः प्रवासिन इत्यर्थः । **चित्रां** तदाख्यनक्षत्रं **स्वाते** स्तदाख्यनक्षत्रस्य **विशाखायै** तदाख्यनक्षत्राय च **गन्तुः** प्राप्तुः, चित्रादिनक्षत्रैः

---

१-२-३ कृदन्तगत्यर्थयोगे द्वितीयैवेति षष्ठ्येवेति चतुर्थी चेति मतमिति यथायथं द्वितीया षष्ठी चतुर्थी च । ४ गत्यर्थयोगेऽप्राप्ते द्वितीयैव । ५-६ अतिकुत्सने मन्यस्य व्याप्याद्वा चतुर्थी पक्षे द्वितीया ॥ ६० ॥

संयुज्यमानस्येत्यर्थः । **भानोः** सूर्यस्य **त्विषाऽऽतपेन अर्दिताः** अत्यन्तं पीडिताः सन्तः **स्वमात्मानं शुने** सारमेयाय **नाऽमन्यन्त, वाऽथवा बुसं** पलालं नाऽमन्यन्त । स्वस्याऽतिकष्टस्थित्या स्वं शुनोऽपि निकृष्टं बुसादप्यसारं मेनिरे इत्यर्थः । शरदि हि चित्रादिनक्षत्रेषु रविसञ्चारः । तत्र च तस्याऽऽतपोऽत्युग्रो दुःसहो भवति प्रायेण ॥ ६० ॥

**नाऽन्नं[१] नावं[२] शुकं[३] काकं[४]**
**शृगालं[५] मेनिरे वृषम् ।**
**पयःपानोन्मदा गोपा**
**महिषं तु शुने[६] तृणम्[७] ॥ ६१ ॥**

नाऽन्नमित्यादि । **गोपा** गोपालका युवानः **पयःपानोन्मदाः** पयसः क्षीरस्य पानेनोन्मदा अतिहृष्टाः सन्तः, अत एव **वृषम्**, जातावेकत्वम् । गोपतीनित्यर्थः । **अन्नं नावं शुकं काकं शृगालं वा न मेनिरे** । स्वस्य क्षीरपानेनाऽतिबलिष्ठत्वाद् वृषाणामीषत्करवश्यत्वात्तानन्नादिभ्योऽपि तुच्छं बुबुधिरे । तु विशेषे । **महिषं** सैरिभं **तु शुने** कुक्कुराय **तृणं** वा मेनिरे । वृषाऽपेक्षयाऽतिबलिष्ठत्वान्महिषस्येति बोध्यम् । शरदि क्षीरप्राचुर्यात्तत्पीत्वा गोपा बलिष्ठा जायन्ते ॥६१॥

---

१-२-३-४-५ अतिकुत्सनेऽपि नावादिवर्जनाद् द्वितीयैव । ६-७ नञ्प्रयोगाऽभावात्कुत्सामात्रप्रतीतेरतिकुत्सनाऽप्रतीतेश्च द्वितीयैव न चतुर्थी कुत्सामात्रेऽपि चतुर्थीत्यन्ये । एवञ्च शुने इति चतुर्थी तृणमिति द्वितीया च ॥ ६१ ॥

**न तृणस्य[१] बुसाय[२] स्वं मन्तेवाऽशुष्यदम्बुदः ।**
**सुखो हितोऽपि पृथ्व्यै[३] द्यो[४] र्यदप्रीणान्न चातकम् ॥६२**

न तृणस्येत्यादि । **अम्बुदो** मेघः **पृथ्व्यै** तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति प्रजाभ्यः **सुखः** सुखप्रयोजकसस्यादिनिष्पत्तिहेतुत्वात्सुखप्रयोजकोऽपि **द्योस्**तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति स्वर्गवासिनो देवस्य **हितः** सस्यौषध्यादियज्ञोपकरणनिष्पत्तिहेतुत्वादिष्टोऽपि सन् **यत् चातकं** स्वात्युदबिन्दुवृत्तिकं तदाख्यं पक्षिविशेषं वर्षणाऽभावान्**नाऽप्रीणाद्** नाऽतर्पयत्, अतः **स्वं तृणस्य बुसाय** वा **मन्तेव** स्वं तृणादिवदकिञ्चित्करं मन्यमान इवाऽ**शुष्यज्**जलरहितोऽभवत् तनुतां गतो वा । योऽपि ह्यम्बुद इव दानादिना लोकहितो यज्ञादिभिः परलोकहितश्च महानुभावः, चतते यतत इति चातको याचकस्तमशक्त्यादिना काले न प्रीणाति सोऽपि स्वमकिञ्चित्करं मन्यमानः शुष्यति खेदात्तनुत्वं याति । शरदि मेघो न वर्षति जलाभावाद्विरलश्च भवति ॥ ६२ ॥

**शं पथ्यं भद्रमायुष्यं स्तात्क्षेमोऽर्थश्च सिद्ध्यतु ।**
**राज्ञः[१] प्रजाभ्य[२] इत्यूचेऽगस्तिरुद्यन् घनस्वनैः ॥ ६३ ॥**

शमित्यादि । **अगस्ति** स्तदाख्यो नक्षत्रविशेषः, उपलक्षणत्वान्मुनिश्च **उद्यन्** उदयं गच्छन् सन्, मुनिपक्षे ज्ञानेन तपःप्रभृति-

१-२ कृदन्तस्य मन्यते योगे षष्ठी, चतुर्थ्यपीतिमते चतुर्थी । ३-४ हितसुखयोगे वा चतुर्थीति यथायथं चतुर्थी षष्ठी च ॥ ६२ ॥

१-२ सुखाद्यर्थकशमादियोगे चतुर्थी ॥ ६३ ॥

भिश्चाऽध्यात्मगुणवृद्धिं प्राप्नुवन् सन् **राज्ञः प्रजाभ्यश्च,** समुच्चयो गम्यः । **शं** सुखं **पथ्यं** हितं **भद्रमैश्वर्यं**मिरायुष्य**मायुर्वृद्धि**करपदार्थः **क्षेमो** लब्धरक्षणं विपद्विरहो वा **स्ताद्** भवतात्, **अर्थ**मिष्टकार्यं **च सिद्ध्यतु** सम्पद्यताम् इत्युक्तप्रकारेण **घनस्वनै** र्मेघगर्जितैः कृत्वा **ऊचे** अशीर्वचनमुदाजहारेवेति लुप्तोत्प्रेक्षा । शरदि हि अगस्तिनक्षत्रमुदेति घनाश्च स्वनन्ति । मुनिरपि कश्चिज् ज्ञानादिवृद्धो नृपेभ्यःप्रजाभ्यश्चोक्तप्रकारमाशिषं घनस्वनैः गंभीरया वाचा दत्ते, तस्य लोकहितेच्छुत्वात् ॥६३

**श्रेयश्चिरायुः कुशलं**
**स्तात्कार्यं सिद्धिमेतु च ।**
**पुत्रेभ्यश्च**[1] **स्नुषाणां**[2] **चे-**
**त्यूचु र्बलिमहे स्त्रियः** ॥ ६४ ॥

श्रेय इत्यादि । **स्त्रियः** कुलवृद्धाः स्त्रियो **बलिमहे** बलिराज्यदिनोत्सवे कार्तिकस्याऽमारात्रौ शुक्लप्रतिपदि च **पुत्रेभ्यश्च स्नुषाणां च** पुत्रवधूनां च **श्रेयो** भद्रमैश्वर्यं च **चिरायु** दीर्घजीवितं च **कुशलं** विपद्विलयश्च **स्ताद्** भवतात् । **कार्यं** प्रयोजनं **सिद्धिमेतु** सम्पद्यतां **चेती**त्थ**मूचु**राशीर्वचनमुदाजहुः । शरदि कार्तिकस्याऽमारात्रौ शुक्लप्रदि॰पदि च लोका बलिराज्यमहः कुर्वन्ति । तत्र च कुलवृद्धाः स्त्रियो भगिन्यादयश्च प्रगमद्भ्यः पुत्रादिभ्यो भ्रात्रादिभ्यश्च चन्दनादिदानपूर्वकमुक्तप्रकारेणाशीर्वचनमुद्गिरन्ति ॥ ६४ ॥

---

१–२ भद्रार्थैर्योगे वा चतुर्थीति यथायथं चतुर्थी पक्षे षष्ठी च ॥६४॥

**शरदा किं परिक्रीताः सहस्राया[१] ऽयुतेन[२] वा ।**
**अलं केल्यै[३] श्रियै[४] शक्ता हंसास्तस्या यदन्वयुः ॥ ६५ ॥**

शरदेति । **हंसाः** स्वनामप्रसिद्धाः पक्षिणः । **केल्यै** क्रीडायै **अलं** शक्ताः, **श्रियै** शोभायै **शक्ताः** समर्थाः । हंसाःक्रीडासाधनं शोभाहेतुश्च स्वयमपि च ते क्रीडापराः शोभमानाश्चेत्यतः **शरदा** तदाख्यर्तुना **सहस्राय** सहस्रसुवर्णादिमुद्रयाऽ**युतेन** दशसहस्रसुवर्णादिमुद्रया वा **परिक्रीताः** नियतकालं स्वायत्तीकृताः **किमित्युत्प्रेक्षा**याम् । **यद्** यस्माच्च **तस्याः** शरदोऽ**न्वयुरनुसरणं** विदधुः । सेवका हि क्रीडाशोभादिनिपुणा वेतनादिना स्वयत्तीक्रियन्ते धनिकैः काले । ते चताननुसरन्ति नियतकालं यावत् । हंसाश्च शरदि समागच्छन्ति, ततस्तथोत्प्रेक्षेति बोध्यम् ॥ ६५ ॥

**स्वधा पितृभ्य[१] इन्द्राय[२] वषट् स्वाहा हविर्भुजे[३] ।**
**नमो देवेभ्य[४] इत्यृत्विग्वाचः सस्यश्रियाऽफलन् ॥ ६६ ॥**

स्वधेत्यादि । **पितृभ्यो**ऽग्निष्वात्तादिभ्यः पितृभ्यः **स्वधा** हविस्त्यागोऽस्तु, **इन्द्राय** देवेन्द्राय **वषट्** हविस्त्यागोऽस्तु, **हविर्भुजे**ऽग्नये **स्वाहा** हविस्त्यागोऽस्तु, **देवभ्यो नमो** नमस्कारोऽस्तु, **इतीत्थम् ऋत्विग्वाचः** ऋत्विजां पुरोहितानामृतौ वर्षर्तौ वर्षविघ्ननि-

---

१–२ वेतनादिना कियत्कालात्मसात्कारे परिक्रियणे वा चतुर्थीति यथार्थं चतुर्थी तृतीया च । ३–४ शक्तार्थैर्योगे चतुर्थी ॥ ६५ ॥

१–२–३–४ स्वधादिशब्दयोगे चतुर्थी ॥ ६६ ॥

वारणार्थं सस्यसमृद्ध्यर्थं च कारीरीष्टिप्रभृतियागे विहिता **वाचो** मन्त्राः **सस्यश्रिया** सस्यसम्पदा प्रचुरसस्यनिष्पत्त्या हेतुना **कृत्वाऽफलन्** सफला जाताः ॥ ६६ ॥

**प्रजाभ्यः**[१] **स्वस्त्यभून्निद्रा समुद्रशयनाद्ययौ**[२] ।
**आ सिन्धोः**[३] **शाद्वलान्यासन्नश्मरात्**[४] **पर्यपोषरात्**[५] ॥ ६७

प्रजाभ्य इत्यादि । **प्रजाभ्यो** लोकेभ्यः **स्वस्ति** सस्यादिसम्पत्त्या भद्र**मभूत्** । **समुद्रशयनात्** समुद्रः क्षीरसागरः शयनं शय्या शयनस्थानं वा यस्य स तादृशो विष्णुस्तस्माद्विश्लिष्य **निद्रा** शयनं **ययौ** अपगता । कार्तिकशुक्लैकादश्यां विष्णुर्निद्रां त्यजतीति पौराणिकाः । लोकाश्च देवोत्थानैकादशीति कीर्तयन्ति उपवासादिकं च कुर्वन्ति, विधिना विष्णुमुत्थापयन्ति च । **आसिन्धोः** समुद्रपर्यन्तं नदीमभिव्याप्य वा **अश्मरादप** अश्मवन्तं देशं वर्जयित्वा **ऊषरात्परि** ऊषरमिरिणं क्षारमृत्तिकाप्रधानं देशं वर्जयित्वा च **शाद्वलानि** हरिततृणाच्छादितत्वात्सहरितानि भूखण्डानि **आसन्नभूवन्** । वर्षर्तौ घासानामुद्गमाच्छरदि तैर्देशाः शाद्वलिनो भवन्ति ॥ ६७ ॥

**प्रतिद्विपमदाऽऽमोदाद्**[१] **गन्धं सप्तच्छदान्यधुः** ।
**शेफालीभ्यो दद्गुलास्यं प्रति गन्धाच्च**[२] **मारुताः** ॥ ६८ ॥

---

१ भद्रार्थकयोगे चतुर्थी । २ अपादाने पञ्चमी । ३ मर्यादाभिविध्योराङा योगे पञ्चमी । ४–५ वर्जनार्थकपर्यपाभ्यां योगे पञ्चमी ॥६७॥

१–२ प्रतिनिधिप्रतिदानयोः प्रतिना योगे पञ्चमी ॥ ६८ ॥

प्रतीत्यादि । **सप्तच्छदानि** शारदतरुपुष्पाणि **द्विपमदामोदात्** द्विपस्य गजस्य यो मदो दानवारि तस्य य आमोदः सौरभ्यं तस्मात्**प्रति** तत्प्रतिनिधिभूतम्, तत्तुल्यमित्यर्थः । **गन्धं** सौरभ्य**मधुर्धूतर्वन्ति** । **मारुताः** समीराश्च **शेफालीभ्य**स्तदाख्यलताविशेषपुष्पेभ्यो **गन्धात् प्रति** सौरभ्यस्य प्रतिदानभूतं **लास्यं** नृत्यं **ददुः** शिक्षयामासुः । कलोपाध्याया हि गन्धादि गृहीत्वा नृत्यं शिक्षयन्ति । शरदि गजा माद्यन्ति, मदगन्धीनि सप्तच्छदपुष्पाणि उद्गच्छन्ति, शेफालीपुष्पाणि च सुगन्धीनि विकसन्ति, मारुताश्च मन्दं वहन्ति, लतादीन् कम्पयन्ति आमोदांश्च दिक्षु नयन्ति ॥ ६८ ॥

**उपाध्यायादधीत्येव [१] केकी श्रुत्वा नटस्य [२] वा ।**
**प्रासादाग्रान्ननर्तैनं [३] पौर्यः प्रैक्षन्त चाऽऽसनात् [४] ॥ ६९ ॥**

उपाध्यायादित्यादि । **केकी** मयूरः **उपाध्यायात्** कलागुरो**रधीत्य** नियमपूर्वकं नृत्यविद्यामधिगम्य**ेव**, **वा** तथा **नटस्य** नृत्ताजीवस्य वेतनादिना नृत्यविद्यां **श्रुत्वेवाऽऽ**कर्ण्यैव, लुप्तोत्प्रेक्षा । अथवा पूर्वमुपात्त इवशब्द इह सम्बन्धनीयः । **प्रासादाग्रात्** प्रासादाग्रमारुह्य, देवायतनादिशिखरमारुह्येत्यर्थः । **ननर्त** नृत्यं चकार । यथा नृत्यविद्यां गुरोरधीत्य नटस्य तां श्रुत्वा च नृत्यनिपुणश्चारु नृत्यति तथा मयूरोऽपि जातिस्वभावाच्चारु नृत्यतीत्युत्प्रेक्षा । अत एव, मनो-

---

१–२ नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे पञ्चमी । तदभावाच्च नटस्येति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । ३–४ यपि गम्ये पञ्चमी ॥ ६९ ॥

रञ्जनात्कौतुकाच्च **पौर्यः** पुरस्त्रियः **आसनात्** फलकाद्यासने उपविश्य **एनं** नृत्यन्तं केकिनं **प्रैक्षन्त** सादरमवालोकयन्त । शरद्यपि मयूरा नृत्यन्ति ॥ ६९ ॥

**वर्षाऽत्ययात्** [1] **प्रभृत्यब्जोद्गमादा** [2] **रभ्य चाऽऽबभौ ।**
**अन्यो वीणाक्वणाद्** [3] **भिन्नो वेणुनादा** [4] **दलिस्वनः ॥७०**

वर्षात्ययादित्यादि । **वर्षाऽत्ययाद्** वर्षाणां वर्षर्त्तोरत्ययोऽपगमस्ततः **प्रभृति** तत आरभ्य, **अब्जोद्गमाद्** अब्जानां कमलानामुद्गम उद्भेदस्तत **आरभ्य च अलिस्वनः** अलीनां भ्रमराणां कमलमधुपानोन्मदानां स्वनो गुञ्जनम्, **वीणाक्वणाद्** वीणायास्तन्त्र्याः क्वणः प्रक्वाणस्त**दन्यो** विलक्षणः, **वेणुनादाद्** वेणोर्वाद्यविशेषस्य नादात्स्वनाद् **भिन्नः** विसदृशः, तयोर्नादाऽपेक्षयाऽप्यधिकं कर्णप्रियत्वादिति भावः । अत एव, **आबभौ** वेणुवीणास्वनाऽपेक्षयाऽतिशयेन शुशुभे । अतिशयेन चित्तावर्जकत्वादिति भावः । शरदि कमलानां विकासात्तन्मधुपानोन्मदानां भ्रमराणां गुञ्जनमति मधुरं भवेत् ॥ ७० ॥

**गम्येऽपि पश्चिमे देशे ग्रामात्प्राच्यां** [1] **ययुर्जनाः ।**
**महानवम्या** [2] **अपरेऽह्नि क्रोशात्** [3] **सीम लङ्घितुम् ॥ ७१ ॥**

---

१–२ प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी । ३–४ अन्यार्थयोगे पञ्चमी ॥ ७० ॥

१ दिशि दृष्टत्वाद्देशवृत्तिनाऽपि दिक्शब्देन योगे दिक्शब्दयोगे च पञ्चमी । २ कालावृत्तिदिक्शब्दयोगे पञ्चमी । ३ गम्यमानेऽपि दिक्शब्दे पञ्चमी ॥ ७१ ॥

गम्येऽपीत्यादि । **जना** लोका **महानवम्या** आश्विनशुक्लनवमीतिथे**रपरे**ऽनन्तरे**ऽह्नि** दिने, द्वितीये दिने इत्यर्थः । विजयदशम्यामिति यावत् । **ग्रामाद्** उपलक्षणत्वान्नगरादिभ्यः **पश्चिमे** पश्चिमदिक्स्थे **देशे** भूमौ **गम्ये** पश्चिमदिग्यात्रामुहूर्त्तसत्त्वाद् गतिप्रतिकूलनक्षत्राद्यभावाच्च **सुगेऽपि** सति **क्रोशात्** क्रोशपरिमितदेशात्परेण **सीम** ग्रामादिसीमानं **लङ्घितुमुत्तरीतुं** **ययुर्**जग्मुः । विजयदशम्यां हि क्रोशाधिकं शकुनादिलाभाय जना गच्छन्ति, तथाऽऽचारात् । तच्च सीमोल्लङ्घनमिति प्रसिद्धम् । तत्र च प्राच्यामेव गच्छन्ति नाऽन्यां दिशम् । यद्वा ग्रामपदोपादानाद् ग्राम्याणामेषा रूढि र्यत्प्राच्यामेव गच्छन्ति नागरास्तु सीमोल्लङ्घितुं शुभमुहूर्त्तादिनाऽनुकूलां पश्चिमादिदिशमपि गच्छन्ति ॥ ७१ ॥

**आरात्तीरा**[१] **द्बहिर्नीरा**[२] **च्छीतेभ्य**[३] **इतरै रवेः ।**
**अप्युस्रैस्ताप्यमानोऽस्थाद् ऋणाद्बद्धो**[४] **नु कच्छपः ॥७२॥**

आरादित्यादि । **कच्छपः** कमठः, जातावेकत्वम् । **शीतेभ्यः** शीतलेभ्य **इतरै** र्भिन्नैः, तद्विरोधित्वात्तद्भिन्नैः, एवं चाऽत्युष्णैरित्यर्थः । अतिशयलाभार्थमेव निषेधमुखेन प्रतिपादनमिति बोध्यम् । **रवेः** सूर्यस्य **उस्रैः** किरणै **स्ताप्यमानः** सन्ताप्यमानोऽपि **नीरा**ज्जलाद्**बहिरु**परि **देशे** **तीरादारात्** तडागादितीरसमीपे **ऋणाद्** देयाद् हेतोः

१–२–३ आराद्बहिरितरशब्दैर्योगे यथाक्रमं पञ्चमी । ४ हेतौ ऋणात्पञ्चमी ॥ ७२ ॥

**बद्धो** निगृहीतो **नु**, न्वितीवार्थे । **अस्थादतिष्ठत्** । यथा ऋणस्याऽविशोधे ऋणिकेन बद्धोऽधमर्णोऽतिघर्मेऽपि आतप एव निरुपायस्तिष्ठति न तु शैत्यार्थं जलं प्रविशति तथेत्यर्थः । शरदि कच्छपा जलान्निर्गत्याऽऽतपे तिष्ठन्ति ॥ ७२ ॥

**सौरभा[1] दनुरागेण**
**मुदा[2] बद्धोऽलिरभ्रमत् ।**
**कुमुदस्या[3] ऽन्तिकेऽब्जाच्च[4]**
**दूरे नीपस्य[5] केतकात्[6] ॥ ७३ ॥**

सौरभादित्यादि । अलि भ्रमरः, जातावेकत्वम् । **सौरभा**त्कुमुदाऽब्जामोदाद् हेतो जातेन **अनुरागेण** प्रेम्णा हेतुनोद्भूतया **मुदा** हर्षेण **बद्धः** सम्भृतचेताःसन् **कुमुदस्य** कैरवस्य **अब्जात्** कमला**दन्तिके** समीपे **नीपस्य** कदम्बस्य **केतकात्** केतकीपुष्पाद् **दूरे**ऽकालप्राप्तत्वेनाऽमनोज्ञत्वाद्विरागाद् दूर एव **च अभ्रमदटति** स्म । कालोचितस्य हि प्रेम्णा समीपं गच्छन्ति, अकालप्राप्तस्य च विरागेण दूरं गच्छन्ति । शरदि न नीपकेतकयो र्मनोज्ञत्वं सतोरपि, कुमुदाब्जयोस्तु कालोचितत्वात्तत्त्वम् । शरदि भ्रमराः कुमुदादिसमीपे भ्रमन्ति ॥ ७३ ॥

---

१ गुणाद् हेतौ पञ्चमी । २ त्रिलिङ्गत्वान्मुदेति गुणादपि न पञ्चमी किन्तु तृतीया । ३–४–५–६ आरादर्थैर्योगे पञ्चमीति यथायथं पञ्चमी पक्षे षष्ठी च शेषे ॥ ७३ ॥

**स्तोकाज्जाती: [१] स्पृशन् स्तोके-**
**ना [२] ऽब्जान्यल्पाच्च [३] शीकरान् ।**
**अल्पेन [४] वानपि मरुत्**
**कृच्छ्रात्सेहे [५] वियोगिभि: ॥ ७४ ॥**

स्तोकादित्यादि । **स्तोकाद्** ईषज्**जाती** मल्लिका:, उपलक्षणत्वात्तत्पुष्पाणीत्यर्थ: । **स्तोकेन** ईषद**ब्जानि** विकचानि कमलानि, एतेन सौरभ्यमुक्तम् । **अल्पादी**षत् **शीकरान्** जलकणांश्च, एतेन शैत्यमुक्तम् । **च:** समुच्चये । तेन स्पृशन्निति जात्यादिभि: प्रत्येकं सम्बध्यते । **स्पृशन्** यथायथमान्दोलयन् वहंश्च **मरुत्** पवनो**ऽल्पेन** मन्दं **वान्** सञ्चरन्नपि, पुष्परजोजलकणभारादिवेति ध्वनि: । अत एव जात्यादीनामीषत्स्पर्श इति बोध्यम् । **वियोगिभि** र्विरहिभि: **कृच्छ्रात्** कष्टं यथास्यात्तथा **सेहे** मृष्ट: । सुरभि: शीतलो मन्दश्च मरुत्कामोद्दीपकतया विरहिणां तापाय कल्पते इत्याशय: । शरदि जातय: कमलानि च पुष्पन्ति मरुच्च मन्दं वाति ॥ ७४ ॥

**कृच्छ्रेणा [१] ऽर्कस्य वीक्ष्यत्वाद् ग्रीष्म: कतिपया [२] च्छरत् ।**
**प्रावृट् कतिपयेना [३] ऽल्पै [४] र्मेघै:स्तोकैश्च [५] गर्जितै: ॥ ७५**

---

१-२-३-४-५ असत्त्वे स्तोकादिभ्यो वा पञ्चमी पक्षे सहार्थे तृतीया ॥ ७४ ॥

१-२-३ असत्त्वे कृच्छ्रकतिपयाभ्यां वा पञ्चमी । पक्षे सहार्थे तृतीया। ४-५ सत्त्ववृत्तित्वादल्पस्तोकाभ्यां करणे हेतौ वा तृतीया ॥ ७५ ॥

कृच्छ्रेत्यादि । **शरत्** तदाख्यर्त्तुः, **कृच्छ्रेण** कष्टेन **अर्कस्य** सूर्यस्य **वीक्ष्यत्वाद्** अवलोकितुं शक्यत्वात् **कतिपयादल्पेन** **ग्रीष्मो** निदाघात्मकः । शरदि रवेः प्रचण्डाः कराः, ततः स दुर्दर्शो घर्मकरश्च भवति । तथा, **अल्पैर्विरलैर्मेघैरम्बुदैः**, **स्तोकैरल्पैः गर्जितैः** स्तनितैश्च कृत्वा, मेघानामल्पत्वादिति बोध्यम् । **कतिपयेनाऽल्पेन शरत्** **प्रावड्** वर्षर्त्वात्मिका, अभूदिति शेषः । एतेन समशीतोष्णत्वाच्छरदः सुखावहत्वमुक्तम् ॥ ७५ ॥

**क्लान्ताः कृच्छ्रेण तापेन ज्योत्स्नायाः**[१] **प्रागजानत ।**
**वीचिह्लादैस्ततोऽजानंश्चकोराः सरसां**[२] **पयः ॥ ७६ ॥**

क्लान्ता इत्यादि । **चकोरास्तदाख्याः** पक्षिणः **कृच्छ्रेण** **कष्टेन** लक्षणया कष्टकरेणेत्यर्थः । तापस्याऽत्युग्रत्वात्कष्टाधिक्यं ध्वनितुं कारणे कार्योपचारो बोध्यः । **तापेनाऽऽतपेन** **क्लान्ता** आर्त्ताः सन्तः, **प्राक्** आदौ **सरसां** तडागानां **पयो** जलं **ज्योत्स्नायाः** कौमुद्या **अजानत**, सरोजले ज्योत्स्नाभ्रमात्प्रवृत्ताः । आर्त्तस्य शीतमिच्छतो भ्रमः सुलभ इति भावः । एतेन शरदि सरोजलस्य ज्योत्स्नावन्निर्मलत्वं ध्वन्यते । यद्वा ज्योत्स्नाप्रियत्वाद् रागावेशात्सरोजलमेव ज्योत्स्नारूपेण प्रतिपन्नवन्तः । रागाधिक्यात्तद्विषयो भ्रमो रागिणां प्रतीत इति बोध्यम् । **ततो** ज्योत्स्नाया अलाभाद्बाधज्ञानात्तादृशभ्रमनिरासानन्तरं

१ अज्ञानार्थस्य जानाते योगे षष्ठी । २ ज्ञानार्थत्वात्सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ॥ ७६ ॥

27

**वीचिह्लादैः वीचीनां** तरङ्गाणां ह्लादैः ध्वनिभिः सरःपयोलक्षणैः कृत्वा **सरसां पयः** सरसां पय एव **अजानन्** ज्ञातवन्तः । अत्र वीचिह्लादोऽपि ज्योत्स्नाभ्रमनिराकरणहेतुरिति बोध्यम् ॥ ७६ ॥

**शैलस्यो [१] पर्यधोऽवस्तात्परस्तादुत्पतिष्णुभिः ।**
**उपरिष्टाच्छरल्लक्ष्म्या [२] नीलच्छत्रायितं शुकैः ॥ ७७ ॥**

शैलस्येत्यादि । **शैलस्य** पर्वतस्य **उपरि** ऊर्ध्व**मध** ऊर्ध्वदेशाऽपेक्षयाऽधोभागे अवस्तात्पश्चिमभागे **परस्तात्पुरो**भागे उपलक्षणत्वात्पार्श्वयोश्च **उत्पतिष्णुभि**रुड्डीयमानैः **शुकैः** कीरैः **शरल्लक्ष्म्याः** शरदो लक्ष्म्याः शोभायाः, राजलक्ष्म्या इवेतिच्छत्रपदसान्निध्याद् ध्वन्यते । **उपरिष्टाद्** उपरिभागे **छत्रायितम्** छत्रवदाचरितम् । शुकैश्छत्रवदेव बाहुल्यादावरणायितत्वादिति बोध्यम् । छत्रं राजलक्ष्मीचिह्नमिति शरल्लक्ष्म्यास्तादृशाः शुकाश्छत्रम् । अत्रेदमवधेयम्–राजलक्ष्मीचिह्नं श्वेतच्छत्रं नतु नीलमिति वर्णनमिदं विरुद्धमिति । शरदि शुका बाहुल्येन भवन्ति पर्वतादिषु च निवसन्ति ॥ ७७ ॥

**ध्रुवस्या [१] ऽभाद्दक्षिणतो वातापेः [२] प्सातुरुत्तरात् [३] ।**
**पितॄणां दुर्गते [४] स्त्यागेऽध्वा द्यो [५] र्यानस्य [६] साधकः ॥७८**

ध्रुवस्येत्यादि । **पितॄणां** प्रेतानां पूर्वजानां दुर्गतेर्दन्दशूकत्वा-

१–२ रिष्टादादिशब्दयोगे षष्ठी ॥ ७७ ॥

१–३ अतसातोर्योगे षष्ठी । २–४–५–६ कृद्योगे कर्मणि षष्ठी ॥७८॥

द्यधमगते **स्त्यागे** परिहारे सति **द्योः** स्वर्गस्य कर्मभूतस्य **यानस्य साधकः** सम्पादकोऽ**ध्वा** मार्गः, अर्थात्पितॄणामेवेति बोध्यम् । **वत्सा-ख्यो** ज्योतिषे प्रसिद्ध आकाशे मार्गवल्लक्ष्यमाणत्वात्पितृमार्गत्वेन **प्रसिद्ध** इत्यर्थः । **ध्रुवस्य** तदाख्यस्य नक्षत्रस्य **दक्षिणतो** दक्षिणस्यां **दिशि वातापे** स्तदाख्यासुरविशेषस्य कर्मभूतस्य **घ्सातु** र्भक्षकस्य **अगस्ते-**रगस्तिमुनिसाह्वनक्षत्रविशेषस्य **उत्तरतः** उत्तरस्यां **दिशि अभात्** लक्षितो बभूव । मुनिपीडको वातापि र्नामाऽसुरोऽगस्त्येन भक्षितः, स एवाऽगस्त्यो दक्षिणस्यां तदाख्यनक्षत्रमिति पौराणिकाः । आकाशे शरदि लक्ष्यमाणेन वत्साख्येन मार्गेण पितरो दुर्गतिं विहाय स्वर्गं गच्छन्तीति तद्विदः । स च वत्सो ध्रुवाऽगस्त्योर्मध्ये लक्ष्यते ॥७८॥

**निद्रां योऽत्यक्तपूर्व्यब्दै र्गर्जकैः साध्वपां[१] पिबैः ।**
**स तामत्यजदम्भोधौ कैटभस्य[२] मधु[३] द्विषन् ॥ ७९ ॥**

निद्रामित्यादि । **यो** विष्णु**रम्भोधौ** क्षीरसागरे, निवसन्निति बोध्यम् । **अपां** जलानां **पिबैः** पिबन्तीति पिबास्तै स्तादृशै र्जलानि पिबद्भिः, जलसम्भृतैरित्यर्थः । अत एव **साधु** सातिशयं **गर्जकैः** गर्जितानि कुर्वद्भिरब्दै र्जलधरैः, वर्षासु मेघो सरिदादिजलानि पिबतीति प्रसिद्धम् । **निद्रां** शयन**मत्यक्तपूर्वी** त्यक्ता पूर्वमनेनेति त्यक्तपूर्वी, न तादृश इत्यत्यक्तपूर्वी, जलधरगर्जनयाऽपि यो निद्रां न जहौ स

१ कर्मणि कृद्योगे षष्ठी । २-३ अतृशन्तस्य द्विषः कर्मणि वा षष्ठी पक्षे द्वितीया ॥ ७९ ॥

तादृश इत्यर्थः । **कैटभस्य** तदाख्याऽसुरस्य **मधुं** तदाख्यमसुरं **च** **द्विषन्** नाशकः, मधुकैटभहन्ता विष्णुरित्यर्थः । **शरदि तां** निद्रा**मत्यजत्**, प्रबुद्धवानित्यर्थः । शरदि हि देवोत्थानैकादशी समुपास्यते जनैः, तस्यां च विष्णुं मन्त्रविधिना प्रबोधयन्ति । तदेतन्महन्माहात्म्यं शरदः, यदन्येनाऽसाध्यं साधयतीति भावः ॥ ७९ ॥

**पवने खं [१] तुषाराणां [२]**
**तरलत्वस्य [३] वीरुधाम् [४] ।**
**दिशां [५] नेतरि किञ्जल्कान् [६]**
**श्रान्तानां [७] शायिकाऽभवत् ॥ ८० ॥**

पवन इत्यादि । **पवने** वायौ **तुषाराणां** जलकणानां **खमा**काशं **नेतरि** प्रापयितरि सति, जलकणानादायाऽऽकाशं गच्छति सतीत्यर्थः । जलकणसम्पर्काच्छीतले सतीति यावत् । तथा **तरलत्वस्य** चञ्चलताया **वीरुधां** लतानां नेतरि सति, स्वगतिवेगेन लता आन्दोलयति सतीत्यर्थः । मन्दं वाति सतीति यावत् । तथा, **किञ्जल्कान्** लक्षणया कमलकेशरपरागान् **दिशां** दिक्षु नेतरि सति, परागान् सुगन्धीनादाय वहति सतीत्यर्थः । मन्दे शीतले सुरभिणि च खेदापहरे समीरे सञ्चरति सतीति मिलिततात्पर्यम् । **श्रान्तानां** मार्गगमनादिखिन्नानां **शायिका** शयनमभवत् । अपगतखेदो हि शेते ।

---

१–२–३–४–५–६ द्वयोः कर्मणोः कृद्योगे एकत्र वा षष्ठीति यथायथं षष्ठी द्वितीया च । ७ कृद्योगे कर्त्तरि षष्ठी ॥ ८० ॥

शरदि त्रिविधो वायुर्वर्ण्यतेऽनियतदिग्गतिश्च सः ॥ ८० ॥

**कृतिः स्वराणां क्रौञ्चीभि १ विपञ्चीनामिवाऽऽबभौ ।**
**ऋतुमत्येव २ काशाल्याः कुसुमस्य प्रकाशनम् ॥ ८१ ॥**

कृतिरित्यादि । **क्रौञ्चीभिः** क्रौञ्चपक्षिजातिस्त्रीभिः कर्त्रीभिः **स्वराणां** कूजितानां कर्मभूतानां **कृति** विधानम्, क्रौञ्चीकूजितमिति यावत् । **विपञ्चीनां** वीणानां कर्त्रीणां स्वराणां कृतिरिव **आबभौ** कर्णप्रियतयाऽऽविर्बभूव । तथा, **काशाल्याः** काशाख्यतृणश्रेण्याः कर्त्र्याः **कुसुमस्य** जातावेकत्वमिति पुष्पाणां कर्मभूतानां **प्रकाशन**माविर्भावः, **ऋतुमत्याः** रजस्वलायाः कर्त्र्याः कुसुमस्य स्त्रीधर्मस्य रजसः कर्मभूतस्य प्रकाशनमिवाऽऽबभौ । अत्र स्त्रीधर्मस्य रक्तत्वात्प्रकाशनमात्रेण साम्यं बोध्यम् । किन्तु जुगुप्साव्यञ्जकत्वान्निकृष्टग्राम्यत्वादसभ्यत्वाच्चाऽत्यन्तमनुचितमिति प्रतिभाति । शरदि हि क्रौञ्च्यः श्रुतिप्रियं कूजन्ति काशानि च कुसुमितानि भवन्ति ॥ ८१ ॥

**शृङ्गस्य त्याग एणानां मित्रस्येव दुरात्मभिः १ ।**
**विभित्सा भेदिका चोक्ष्णां २ पयसामिव ३ रोधसः ॥८२॥**

शृङ्गस्येति । **एणानां** मृगाणां कर्तॄणां **शृङ्गस्य** विषाणस्य

---

१—२ कर्तृकर्मषष्ठीहेतोः कृतो योगे वा षष्ठी पक्षे तृतीया ॥ ८१ ॥

१ कर्तृकर्मषष्ठीहेतोः कृतो योगे कर्त्तरि वा षष्ठीति तृतीया । २—३ स्त्र्यधिकारविहिताऽणकप्रत्ययपर्युदासाद् द्विहेतोः कृतो योगेऽपि षष्ठ्येव ॥ ८२

कर्मभूतस्य **दुरात्मभिः** दुर्दुष्टो द्रोहादिसञ्जातत्वादात्माऽन्तःकरणं येषां तै-स्तादृशै **र्दुर्जनैः** कर्तृभि **र्मित्रस्य** सख्युः कर्मभूतस्येव **त्यागो**ऽपनयनम् अभूदिति शेषः। यथा दुरात्मानो मित्राणि त्यजन्ति तथा मृगाः शृङ्गाणि तत्यजुरित्यर्थः। तथा, **उक्ष्णां** बलीवर्दानां कर्तृणां **रोधस-स्तटस्य** कर्मभूतस्य **बिभित्सा** भेत्तुमिच्छा **भेदिका** विलेखनं च **पयसां** जलानां वर्षतौ वृष्टजलोच्छलितनदीपूराणां रोधसो बिभित्सा **भेदिकेव** च, अभूदिति शेषः। शरदि मृगाः शृङ्गाणि पातयन्ति, वृषभाश्च पुष्टा मदाद् वप्रक्रीडायां तटानि भिन्दन्ति ॥ ८२ ॥

**स्तुत्यमान्याऽनुयानीयगातव्याऽऽदेयसद्गुणः।**
**नृणां[१] देवैश्च[२] स तदा राजा यात्रां प्रचक्रमे ॥ ८३ ॥**

स्तुत्येत्यादि। **तदा** तादृशे शरत्काले विजृम्भमाणे **स** प्रस्तुतो **नृणां** जनानां कर्तृणां **देवैः** सुरैः कर्तृभिश्च **स्तुत्यमान्याऽनुयानीय-गातव्याऽऽदेयसद्गुणः** स्तुत्याः प्रशस्या मान्याः पूजनीया अनुया-नीयाः अनुसरणीया गातव्याः सुस्वरं कीर्तनीया आदेया ग्राह्याश्च सन्त उत्तमा गुणाः शौर्योदार्यादयोऽतिशया यस्य स तादृशो **राजा** मूलराजा-ख्यो नृपो **यात्रां** ग्राहरिपुं प्रति प्रयाणकं **प्रचक्रमे** प्रारब्धवान्। शरत्कालस्य प्रयाणोचितत्वादिति भावः ॥ ८३ ॥

---

१–२ कृत्यान्तयोगे कर्त्तरि वा षष्ठीति यथायथं षष्ठी तृतीया च ॥ ८३ ॥

अथ यात्रारम्भं वर्णयन्नाह—

**नेतव्योऽन्तं[1] रिपुः पात्रा गाम[2] नेनेच्छुना[3] यशः[4] ।**
**पूरं पूरं नभो[5] नादै र्दुन्दुभिः प्रोचिवानिदम्[6] ॥ ८४ ॥**

नेतव्य इत्यादि । **अनेन** प्रस्तुतेन मूलराजेन **गां** पृथिवीं **पात्रा** दुर्जननिग्रहेण कृत्वा रक्षित्रा सता तथा तत्कृतमेव **यशः** कीर्तिं **मिच्छुनाऽ**भिलाषुकेण **रिपुः** शत्रुर्ग्राहरिपुप्रभृतिर**न्तं** नाशं **नेतव्यः** प्रापणीयः, शत्रुं हत्वा यशो विन्देत गां च रक्षेदिति यावत् । इदमुक्तप्रकारार्थं वचः, **नादै** र्ध्वनिभिः कृत्वा **नभो** व्योम **पूरं पूरं** व्याप्य व्याप्य **दुन्दुभी** रणभेरी **प्रोचिवान्नु** जगाविव । रणभेरीनादै र्व्योम व्याप्तमित्याशयः ॥ ८४ ॥

**पवमानो जगत्तन्वन्[1] स्वरं[2] बिभ्राणमुच्चताम्[3] ।**
**चक्राणो मङ्गलं[4] शङ्खश्छन्दो[5] ऽधीयन्निव द्विजः ॥ ८५**

पवमान इत्यादि । **शङ्खो** विजययात्राशङ्खः **छन्दो** वेद**मधीयन्** सुस्वरं पठन् **द्विजो** ब्राह्मण **इव उच्चतां** तारत्वमुदात्तत्वं च **बिभ्राणं** धारयन्तं **स्वरं** ध्वनिं **तन्वन्** कुर्वन्, अत एव **जगत्** लोकं **पवमानः** पवित्रयन्नापूरयंश्च **मङ्गलं** शुभाशंसनं **चक्राणश्च**क्रे । यात्रा-

---

१–३ उभयहेतोः कृत्यस्य योगे कर्मकर्त्रोर्न षष्ठीति कर्त्तरि तृतीया गौणे कर्मणि च द्वितीया । २–४–५–६ तृन्नुदन्ताऽव्ययक्वसुयोगे न षष्ठीति द्वितीया ॥ ८४ ॥

१–२–३–४–५ आनशत्रतृशूयोगे षष्ठी नेति द्वितीया ॥ ८५ ॥

काले उच्चैः शङ्खो ध्मायते द्विजाश्च वेदं पठन्ति मङ्गलार्थमित्याचारः ॥ ८५ ॥

**ढक्काभिश्चक्रिभिर्ध्वानं [१] दुःसहं दिग्गजैरपि [२] ।**
**सोऽस्त्रभृत्कारको यात्रां [३] सुज्ञानो वज्रिणाऽप्यभूत् [४] ॥ ८६**

ढक्काभिरित्यादि । **यात्रां** विजययात्रां **कारकः** करिष्यन्, अत एव, **अस्त्रभृत्** अस्त्रं बाणादिकमुपलक्षणत्वाच्छस्त्रं खड्गादिकं च बिभर्त्तीति स तादृशः **स** नृपो मूलराजो **दिग्गजैः** पौराणिकप्रसिद्धैर्दिगन्तस्थितै र्दन्तेषु पृथ्व्युत्तोलकै र्गजै र्दिग्गजा इति प्रसिद्धै **र्दुःसहं** दुःखेनाऽतिशयेन कर्णपीडाकम्पादिकरत्वात्सह्यत इति तादृशम्, अपिना यत्र तादृशबलवतामतिदूरस्थानामपि तादृशशब्देन पीडा तत्राऽन्येषां दुःसहः स ध्वान इति किमुवक्तव्यमिति सूच्यते । तादृशं **ध्वान**मुद्धतनादं **चक्रिभिः** कुर्वतीभि **र्ढक्काभि** र्विजययात्राभेरीभिः कृत्वा **वज्रिणा** स्वःस्थेनेन्द्रेणाऽपि **सुज्ञानो**ऽल्पेनैव ज्ञेयोऽभूत् । ढक्काध्वनि र्दिगन्तवत्स्वर्गमपि व्याप्तवानित्याशयः । नृपस्य विजयात्रार्थमस्त्रधारणवेलायां विशेषतो ढक्का वाद्यन्ते ॥ ८६ ॥

**मृदङ्गै [१] रुद्धवद्धि [२] र्द्यौ ध्वनिनाऽनुकृतो [३] घनः ।**
**शिखिभिः शीलिताः केका गतै र्हर्षं सतां [४] मताः ॥ ८७ ॥**

---

१–२–३–४ ङिखलणकत्र्योगे षष्ठीनिषेधाद् यथायोगं द्वितीया तृतीया च ॥ ८६ ॥

१–२–३ क्तक्तवत्वोर्योगे षष्ठीनिषेधाद् यथायथं द्वितीया तृतीया च ।

मृदङ्गैरित्यादि । **ध्वनिना** नादेन कृत्वा **द्यामाकाशं रुद्धवद्भि**-र्भृतवद्भि**र्मृदङ्गैस्**तदाख्यैः प्रसिद्धै वाद्यविशेषैः कर्तृभि **र्घनो मेघोऽनुकृतो** लक्षणया मेघध्वनि र्विडम्बितः, सामीप्याद् ध्वनिनैवेतिबोध्यम् । मृदङ्गा वाद्यमाना मेघध्वनितुल्यं ध्वानं चक्रुरित्यर्थः । मृदङ्गध्वने मेघध्वनि-तुल्यत्वादेव मेघध्वनिभ्रमाद् **हर्षं** मोदं **गतैः** प्राप्तैः **शिखिभिर्मयूरैः**, मयूराणां घनध्वनिः प्रिय इति प्रसिद्धः । **सतां** विजययात्राशकुनज्ञानां **मताः** शुभशकुनत्वादिष्टाः, वर्त्तमाने क्तः । **केकाः** स्ववाण्यः **शीलि-ताः** पुनः पुनः कृताः, अभ्यस्ता इत्यर्थः । भूते क्तः ॥ ८७ ॥

**आरक्षै रक्षितं भूपस्या [1] ऽऽसितं प्रति योषितः ।**
**कीर्त्तेः [2] श्रियां [3] नु हसितं मौक्तिकस्वस्तिकान् व्यधुः ॥८८**

आरक्षैरित्यादि । **आरक्षैर**ङ्गरक्षकै **रक्षितं** कृतरक्षम्, भूते क्तः । **भूपस्य** नृपस्य मूलराजस्य **आसित**मासनम्, आधारे क्तः । सिंहासनमित्यर्थः । **तत्प्रति** लक्षीकृत्य **योषितो**ऽविधवाः स्त्रियोऽति-निर्मलत्वाच्चाकचक्याऽञ्चितत्वाच्च **कीर्त्ते** र्यशसः **श्रिया** लक्ष्म्या **ह-सितं नु** हास इवोत्प्रेक्षितान् **मौक्तिकस्वस्तिकान्** मङ्गलाय मौक्तिकैः कृताः स्वस्तिका आलेपनविशेषास्तान् **व्यधु**र्विरचयन्ति स्म । मङ्गलार्थं हि स्त्रीभिः स्वस्तिका रच्यन्ते ॥ ८८ ॥

---

४ वर्त्तमाने क्ते न षष्ठीनिषेधः ॥ ८७ ॥

१ आधारे क्ते न षष्ठीनिषेधः । २—३ भावे क्ते वाषष्ठीति यथायथं तृतीया षष्ठी च ॥ ८८ ॥

**कामुकस्य श्रियां[1] भूपा राज्ञ आज्ञां[2] प्रपादुकाः ।**
**सुराष्ट्रां[3] गमिनस्तस्थुस्तत्र कोटिं[4] नु दायिनः ॥ ८९ ॥**

कामुकस्येत्यादि । **श्रियां** शत्रुलक्ष्मीणां **कामुकस्या**ऽभिलाषुकस्य, अत एव, **सुराष्ट्रां** तदाख्यदेशं **गमिनो** गन्तुमिच्छतः, ग्राहरिपुनिग्रहार्थमिति शेषः । **राज्ञो** मूलराजस्य **आज्ञां** निदेशं **प्रपादुकाः** प्रतिपत्तारः, अधीनत्वादिति भावः । **भूपा** नृपा **स्तत्र** सिंहासनसमीपे **कोटिं** कोटिसङ्ख्यां मुद्रां **दायिनो** धारयन्तोऽधमर्णा **नु** इव **तस्थुः** । द्रव्येच्छोरुत्तमर्णस्य समीपेऽधमर्णास्तदाज्ञां वहन्तस्तिष्ठन्त्येव ॥ ८९ ॥

**जगदा[1] गामिनोऽरिष्टस्या[2] ऽवश्यंछेदिनो द्विजाः ।**
**एयुस्तत्रा[3] ऽऽशितारो द्विर्मासे[4] मासो[5] द्विरम्बुपाः ॥९०**

जगदित्यादि । **मासे द्विराशितारो** द्वौ वारौ भोक्तारः, तथा **मासो** मासस्य **द्विरम्बुपा** द्वौ वारौ जलपायिनः, अत्युग्रतपःपरायणा इत्यर्थः । अत एव तादृशतपःप्रभावादेव, **जगत्** प्रजा **आगामिन** एष्यतोऽपि **अरिष्टस्या**ऽमङ्गलस्या**ऽवश्यंछेदिनो** ध्रुवं विनाशयितारो

---

१ कमेरुकान्तस्य न षष्ठीनिषेधः । २ उकान्तयोगे न षष्ठीति द्वितीया । ३–४ एष्यदर्थे ऋणे चेनन्तयोगे न षष्ठीति द्वितीया ॥८९

१ एष्यदर्थे इनन्तयोगे षष्ठीनिषेधाद् द्वितीया । २ आवश्यकार्थे णिनि न षष्ठीनिषेधः । ३ सामीप्ये सप्तमी । ४–५ सुजर्थे योगे काले वा सप्तमी पक्षे षष्ठी ॥ ९० ॥

**द्विजा** ब्राह्मणास्तत्र सिंहासनसमीपे एयुरागताः, शान्तिकार्थमिति भावः ॥ ९० ॥

**सौवस्तिकैः सन्मुहूर्त्ते आयुक्तैस्तपसः[1] श्रुते[2] ।**
**मन्त्रे[3] शान्तेश्च[4] कुशलैः श्चक्रे हस्त्यश्वपूजनम् ॥ ९१ ॥**

सौवस्तिकैरित्यादि । **तपसस्तपश्चरणे श्रुते** वेदादिशास्त्रे, समुच्चयो गम्यते । **आयुक्तैस्**तत्परैः, तपोज्ञानपरायणैरित्यर्थः । नैष्ठिकैर्ज्ञानिभिश्चेति यावत् । **मन्त्रे** मन्त्रप्रयोगविषये **शान्तेः** शान्तिकविधौ च **कुशलै**र्निपुणैः **सौवस्तिकै** मङ्गलकर्मज्ञैः **सन्मुहूर्त्ते** सति शुभे मुहूर्त्ते काले **हस्त्यश्वपूजनं** सविधि हस्तीनामश्वानां च पूजनं **चक्रे** । विजययात्राप्रसङ्गे मङ्गलार्थं हस्त्यादयः पूज्यन्ते ॥ ९१ ॥

**स्वामिनोऽश्वे[1] ष्विभानां[2] चाऽनसां[3] पत्तिषु[4] चेश्वराः ।**
**लक्ष्म्यां[5] क्षिते[6] श्चाऽधिपतेः सद्यो द्वारं सिषेविरे ॥ ९२ ॥**

स्वामिन इत्यादि । **अश्वेषु** अश्वाना**मिभानां** गजानां **स्वामिनः** पतयः, अश्वसेनापतयो गजसेनापतयश्चेत्यर्थः । तथा **अनसां** शकटानामुपलक्षणत्वाद्रथानां च **पत्तिषु** पदातिसैन्यानां **चेश्वराः** पतयः

---

१–२–३–४ कुशलाऽऽयुक्तशब्दाभ्यां योगे वा सप्तमीति यथायथं शेषे षष्ठी सप्तमी च ॥ ९१ ॥

१—२–३–४–५–६ स्वामीश्वराऽधिपतियोगे वा सप्तमीति यथायथं सप्तमी षष्ठी च ॥ ९२ ॥

रथसेनापतयः पदातिसेनापतयश्चेत्यर्थः । चतुरङ्गसैन्यनायका इति समुदितार्थः । **लक्ष्म्यां** राजलक्ष्म्याः **क्षिते** भूमेश्चाऽ**धिपतेः** स्वामिनः **राज्ञो** मूलराजस्येत्यर्थः । **द्वारं** सिंहद्वारं **सद्यस्तत्कालमेव**, एतेन सैन्यानामुत्साहो दक्षता च सूच्यते । **सिषेविरे** सम्प्राप्ताः । सज्जाः सन्त इति शेषः । विजययात्रार्थमिति बोध्यम् ॥ ९२ ॥

**प्रतिभूभिः श्रियः [१] कीर्तौ [२] धर्मे [३] नीतेश्च [४] साक्षिभिः ।**
**शुक्रे [५] गुरोः [६] प्रसूतै र्नु दायादै र्न्वायि मन्त्रिभिः ॥ ९३ ॥**

प्रतिभूभिरित्यादि । **श्रियो** लक्ष्म्याः **कीर्तौ** यशसश्च **प्रतिभूभि**-र्लग्नकैः, तत्र हेतुद्वारेण विशेषणमाह—**धर्मे** धर्मस्य राजधर्मस्य प्रजा-धर्मस्य च **नीते** राजनीते र्लोकनीतेश्च **साक्षिभि** र्द्रष्टृभिः, धर्मिष्ठै-र्नीतिज्ञैश्चेत्यर्थः । अत एव श्रीकीर्तिभिः समन्वितैस्तत्प्रदैश्चेति भावः । अत एव, **शुक्रे** शुक्राचार्यस्य दैत्यगुरो **गुरो** र्बृहस्पतेश्च देवगुरोः **प्रसूतै** रपत्यै **र्न्विव दायादैः** सगोत्रिभिरिवोपलक्षितै **र्मन्त्रिभिः** सचि-वैरायि आयातम् । नृपान्तिकमिति शेषः ॥ ९३ ॥

**ज्योतिषे [१] ऽधीतिनो जन्म च्छायायां [२] शङ्कुमादधुः ।**
**द्विष्य [३] साधु नृपे [४] साधु लग्नं साधयितुं क्षणात् ॥ ९४ ॥**

---

१–२–३–४–५–६ प्रतिभूसाक्षिप्रसूतदायादशब्दयोगे वा सप्तमीति यथायथं शेषे षष्ठी सप्तमी च ॥ ९३ ॥

१ क्तेनन्तव्याप्यात्सप्तमी । २ तद्युक्ते हेतौ सप्तमी । ३–४ असाधुसाधुशब्दाभ्यां योगे सप्तमी ॥ ९४ ॥

ज्योतिषे इत्यादि । **जन्म** जन्मकालं व्याप्य, जन्मन आरभ्यैव **ज्योतिषे** ज्योतिःशास्त्रे **अधीतिनः** कृताऽभ्यासाः, ज्योतिःशास्त्रनिपुणा इति यावत् । **द्विषि** शत्रौ विषये **असाधु** पराजयफलत्वादशुभं **नृपे** यात्रोद्यते मूलराजनृपविषये **साधु** विजयफलत्वाच्छुभं **लग्नं** यात्रामुहूर्त्तं **क्षणात्** सद्यः, **साधयितुं** निश्चेतुम्, यात्रालग्नत्वेन निश्चितो मुहूर्त्तः समजनि न वेति ज्ञातुमित्यर्थः । **छायायां** छायानिमित्तं **शङ्कुमृजुं** सप्ताङ्गुल्यादिमानं काष्ठकीलकम् **आदधुः** समभुवि रोपयामासुः । कालज्ञानार्थं ज्योतिर्विदः शङ्कुं भूमौ स्थापयन्ति, तच्छायामानेन च कालं निश्चिन्वन्ति । तदेषा प्रक्रिया निरभ्रे पांशुवृष्ट्यादिरहिते दिने सम्भवति । अन्यथा च्छायायाः सम्यगज्ञानादिति दिनस्य यात्रायोग्यता सूचिता ॥ ९४ ॥

**स्वं प्रत्यसाधून् साधूंश्चाऽगणयन् वेत्रिणां पतिः ।**
**साधून् स्वामिनि [1] तत्कार्ये [2] निपुणांश्चाऽग्रतो व्यधात् ॥९५**

स्वमित्यादि । **वेत्रिणां** वेत्रधरणां प्रतिहारिणां **पतिरध्यक्षः**, प्रतिहारिमुख्य इत्यर्थः । **स्वं** निजं वेत्रिपतिं प्रति **असाधून्** अभक्तान् **साधून्** भक्तांश्च **अगणयन्** अविचारयन्नेव **स्वामिनि** नृपे मूलराजे **साधून्** भक्तान् **तत्कार्ये** तस्य नृपस्य कार्ये सेवादिविधौ **निपुणान्** कुशलांश्च **अग्रतो** नृपस्य पुरस्ताद् **व्यधात्** स्थापितवान् । प्रायो हि राज्ञो भृत्याः स्वसौविध्यार्थं स्वभक्तानेव राज्ञां पुरतः स्थापयन्ति ।

१–२ अर्चायां साधुनिपुणशब्दयोगे सप्तमी ॥ ९५ ॥

अस्य नृपस्य तु भृत्योऽत्यन्तं स्वामिभक्त इति स्वसौविध्यमविचार्यैव नृपसौविध्यविधित्सया कुशलान् स्वामिभक्तानेव च राज्ञः पुरो व्यधादित्याशयः ॥ ९५ ॥

**हसन्तो निपुणान् मातुः [१] पितुः [२] साधूंश्च शस्त्रिणः ।**
**प्रतीशं [३] निपुणास्तस्थुः श्रेण्या द्वारेऽङ्गरक्षकाः ॥ ९६ ॥**

हसन्त इत्यादि । **ईशं** स्वामिनं मूलराजं **प्रति निपुणाः** कुशलाः, साधव इत्यर्थः । स्वामिरक्षादक्षा इति यावत् । **अङ्गरक्षकाः** नृपशरीररक्षानियुक्ता भटा **मातुः निपुणान्** मात्रैव न त्वन्येनाऽपि निपुणो मे पुत्र इत्येवं मन्यमानान् **पितुः साधूंश्च** पित्रैव साधुर्मे पुत्र इत्येवं मन्यमानांश्च वस्तुतोऽयोग्या एवेमे भटा इति **हसन्तो** विरूपहासेनाऽवजानन्तो **द्वारे** द्वारि **श्रेण्या** पङ्क्त्या, पङ्क्तिबद्धो भूत्वेत्यर्थः । **तस्थुः** स्थिताः । राज्ञोऽङ्गरक्षार्थमिति बोध्यम् ॥ ९६ ॥

**भृत्यानामधि चौलुक्ये [१] ऽध्यद्रिषु [२] क्ष्माभुजां बलम् ।**
**उपखार्यामिव [३] द्रोणो मिलत्यागाद्बले [४] ऽधिकम् ॥९७॥**

भृत्यानामित्यादि । **चौलुक्ये** चौलुक्याऽन्ववाये ईशितव्ये

---

१-२-३ साधुनिपुणशब्दयोगेऽप्यर्चाऽभावात्प्रतिशब्दयोगाच्च न सप्तमी ॥ ९६ ॥

१-२ अधियोगे ईशे ईशितव्ये च सप्तमी । ३ उपयोगेऽधिकनि सप्तमी । ४ भावलक्षणे सप्तमी ॥ ९७ ॥

**अधि** ईशस्य, चौलुक्यवंशाऽधिपस्य मूलराजस्येत्यर्थः । **भृत्यानां** भृत्यवदाज्ञावशंवदानाम्, **अद्रिषु** ईशितव्येषु **अधि** ईशानां पर्वतपतीनां **क्ष्माभुजां** महीभुजां **बलं** सैन्यं **बले** सैन्ये, अर्थान्मूलराजस्येति गम्यते । **मिलत्येकत्रिते** भवति सति, **उप** अधिकिन्यां **खयाँ** षोडशद्रोणपरिमाणायां चितौ **द्रोण** आढकचतुष्टयमिव **अधिकमुपरिष्टात्** आगात् प्राप्तम् । मूलराजस्य एकत्रिते सैन्ये पर्वतपत्यादिसैन्यं महदपि खार्यां द्रोण इवाऽधिकं जातमित्याशयः । एतेन मूलराजसैन्यं द्रोणात्खारीवाऽतिमहदिति ध्वन्यते ॥ ९७ ॥

**वेणौ [1] ध्वनति भेर्यास्त भेर्यां [2] वेणुरपि क्षणात् ।**
**आसीनेषु द्विजेष्वापुः [3] स्वं सूता एषु [4] च द्विजाः ॥ ९८ ॥**

वेणाविति । **वेणौ** वंशवाद्योपलक्षिते प्रेक्षणके वेणौ **ध्वनति** शब्दायमाने सति, सताललयं वेणौ वाद्यमाने सतीत्यर्थः । **भेरी** यात्राढक्का **आस्त** निःशब्दं स्थिता, ढक्कावादनं वारितमित्यर्थः । अन्यथा ढक्कानादस्याऽतितारतया प्रेक्षणकविघ्नः स्यादिति भावः । तथा **भेर्यां** ध्वनन्त्यां सत्यां **क्षणात्सद्य** एव **वेणुर्वंशोऽप्यास्त**, निरर्थकत्वादिति बोध्यम् । एवं **द्विजेषु ब्राह्मणेषु आसीनेषु** दानमलभमानेषु स्थितेषु **सूता** भट्टाः **स्वं** धनमापुःप्रापुः, तथा **एषु** भट्टेषु आसीनेषु **च द्विजा** द्रव्यमापुः । विजययात्राकाले हि उत्सवार्थं प्रेक्षणकं ढक्कादितूर्य-

---

२–३ क्रियाऽर्हाणां कारकत्वे तद्वैपरीत्ये च भावलक्षणे सप्तमी ।
१–४ क्रियाऽनर्हाणामकारकत्वे तद्वैपरीत्ये च भावलक्षणे सप्तमी ॥ ९८ ॥

वादनं च क्रमेण भवेद् । नृपो भटाश्च यात्रोद्यताः स्तावकेभ्यो भट्टेभ्यो यशसे द्रव्यं द्विजेभ्यश्च शुभार्थं द्रव्यं वितरन्ति ॥ ९८ ॥

**ग्रामो यो.योजना[१] न्यष्टौ योजनेषु[२] दशस्वितः ।**
**पर्वे वाऽह्नि[३] त्रयोदश्या यात्रां द्रष्टुं स आययौ ॥ ९९ ॥**

ग्राम इत्यादि । **त्रयोदश्या** स्तदाख्यतिथेः सकाशाद् **अह्नि** एकस्मिन्दिने चतुर्दशीतिथ्यात्मके गते **पर्व** पूर्णिमातिथिरिव । यथा त्रयोदश्या एकस्मिन् दिने गते पूर्णिमा भवेत्तथेत्यर्थः । **इतः** पत्तनाद् **यो** यादृशो **ग्रामस्ता**त्थ्यात्ताच्छब्द्याद् ग्रामस्थो जन इत्यर्थः । **अष्टौ** अष्टसङ्ख्याकानि **योजनानि**, अष्टसु योजनेषु गतेष्वित्यर्थः । **दशसु** दशसङ्ख्याकेषु योजनेषु वा, **स** तादृशो लोकः, अपिरर्थबलाद् गम्यते । तेन तदभ्यन्तरस्य तु कथैव केति सूच्यते । **यात्रां** विजयप्रस्थानं **द्रष्टुम् आययौ** आजगाम । विजययात्राप्रसङ्गेऽद्भुतनानोत्सवसद्भावात्तद्द्रष्टुं दूरस्थोऽपि जनः कुतूहलादागच्छति ॥ ९९ ॥

**पौर्यो रुदत्सु[१] बालेषु सीदतां[२] गृहकर्मणाम् ।**
**एयु द्रष्टुं नृपं श्रेष्ठं नृष्विन्द्रमिव[३] नाकिनाम्[४] ॥ १०० ॥**

---

१–२ गते गम्ये भावलक्षणेऽध्वन ऐकार्थ्ये वेति प्रथमा पक्षे सप्तमी । ३ अत्र नैकार्थ्यमिति भावलक्षणे नित्यं सप्तमी ॥ ९९ ॥

१–२ अनादरे गम्ये वा षष्ठी पक्षे सप्तमीति यथायथं षष्ठी भावलक्षणे सप्तमी । ३–४ निर्धारणे षष्ठी सप्तमी चेति ॥ १०० ॥

पौर्य इत्यादि । **बालेषु** शिशुषु **रुदत्सु** रोदनं कुर्वत्सु, मातुः पार्श्वेऽभावादिति बोध्यम् । **गृहकर्मणां** गृहस्य गृहस्थजनोपयोगित्वाद् गृहसम्बन्धिनां कर्मणां पाकादिव्यापाराणां **सीदतां** समाकुलप्रवृत्तीनाम्, पक्त्रादेरभावादिति बोध्यम् । रुदतो बालान् सीदन्ति गृहकर्माणि चाऽनादृत्येत्यर्थः । एतेनाऽत्यौत्सुक्यं व्यज्यते । **पौर्यः** पुरस्त्रियः **नाकिनां** देवानां मध्ये **इन्द्रं** देवेन्द्र**मिव नृषु** जनेषु **श्रेष्ठं** रूपबलैश्वर्यादिगुणैरुत्कृष्टं **नृपं** राजानं मूलराजं **द्रष्टुमेयु**राजग्मुः । सर्वो हि श्रेष्ठं द्रष्टुं कुतुकीभवति ॥ १०० ॥

**तदाऽस्त्रिभ्यो [१] वरा योधा**
**रेजुर्यैः स्थानकस्थितैः ।**
**विद्धः क्रोशात् [२] क्रोशयो [३] र्वा**
**म्रियेत क्षणयोः [४] क्षणात् [५] ॥ १०१ ॥**

तदेत्यादि । **तदा** विजययात्राप्रसङ्गे, **यै**र्यादृशैर्योधैः **स्थानकस्थितैः** स्थानकानि योधानां लक्ष्यवेधादिकाले आसनविशेषा वीराऽऽलीढाद्याख्यास्तैः कृत्वा **स्थितै**रवस्थितैः, वीरासनादिकमधिश्रितैः सद्भिः **क्रोशा**त्क्रोशपरिमितदूरदेशात्**क्रोशयोः** क्रोशयुगपरिमितदेशतो **वा विद्धो** वेधमापितो लक्ष्यः प्राणी **क्षणयोः** द्वयोः क्षणयोः **क्षणाद्** एकस्मादेव क्षणाद्वा, अत्यल्पकालादित्यर्थः । **म्रियेत** प्राणान् त्यजेद् इति सम्भा-

१ निर्धारणे पञ्चम्यपीति मते पञ्चमी । २–३–४–५ क्रिययोर्मध्येऽध्वकालयो र्यथायथं पञ्चमी सप्तमी च ॥ १०१ ॥

ध्यते । योधानां बलवत्त्वाद्धैर्यगौरवादिति भावः । तादृशाः, अ **एवाऽस्त्रिभ्यो**ऽस्त्रधारिभ्यो धनुर्धरेभ्यो **वराः** श्रेष्ठा **योधा** भटा रे स्वकौशलप्रदर्शनाऽवसरप्राप्त्योत्साहात् तेजस्विनो भान्ति स्म ॥१०१

**संघट्टशीर्णस्त्रीहारै-**
**मुक्तानां राजवेश्मनि ।**
**खार्याः** [1] **खार्यो** [2] **रप्यधिको**
**द्रोणोऽर्धेन** [3] **तदाऽभवत् ॥ १०२ ॥**

संघट्टेत्यादि । **तदा** विजयप्रयाणकाले **राजवेश्मनि** राज कुले **संघट्टशीर्णस्त्रीहारैः** संघट्टेन माङ्गलिकलाजादिक्षेपार्थमहंपूर्विकय प्रवर्त्तमानानां स्त्रीणां परस्परं सम्मर्देन शीर्णानां त्रुटितानां स्त्रीण हारैर्मुक्तास्रग्भिर्निमित्तैः **मुक्तानां** मौक्तिकानाम् **अर्धेन** आढकद्वये **अधिको**ऽधिरूढो **द्रोण** आढकचतुष्टयम् **खार्या** द्रोणचतुष्टयात् **खार्यो** खारीयुगे, **अपि**र्वाऽर्थे । **अधिकोऽभव**त्समपद्यत । यात्राप्रसङ्गे लाजा क्षेपाद्यर्थं तावन्त्यो धनाढ्यस्त्रियः समागताः, येनाऽहमहमिकया प्रवर्त्त मानानां तासां संघट्टेन मुक्ताहारास्त्रुटिताः । ततो विकीर्णाश्च मुक्ताः सार्धद्रोणाऽधिका खारी खारीद्वयं वा समपद्यतेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

---

१-२ अधिकयोगेऽधिकिनि पञ्चमीसप्तम्यौ । ३ अधिकयोगेऽल्पीय-सस्तृतीया ॥ १०२ ॥

**नाऽक्षतै [1] श्चन्दनान्नाना [2]**
**न दध्नो [3] दूर्वया [4] पृथक् ।**
**न पुष्पेभ्यः [5] फलं [6] वर्ते**
**पात्राणि दधिरेऽङ्गनाः ॥ १०३ ॥**

नाऽक्षतैरित्यादि । **अङ्गनाः** यात्राप्रसङ्गे राजकुले समागता महेभ्यादिस्त्रियः, **पात्राणि** स्थालादिभाजनानि, **अक्षतै**रखण्डतण्डुलै-**श्चन्दना**न्मलयजद्रवा**न्नाना** रिक्तानि **न** नैव **दधिरे** हस्ते धारयामासुः, तथा **दध्नः, दूर्वया** तृणविशेषेण **पृथग्** रिक्तानि, न दधिरे, तथा **पुष्पेभ्यः फलं वा ऋते** विना, न दधिरे । मङ्गलार्थं स्त्रियो राजकुलादिषु अक्षतचन्दनदधिदूर्वापुष्पफलपूर्णानि पात्राणि नयन्तीत्याचारः ॥ १०३ ॥

**नाऽऽसन् विनाऽङ्गरागेण [1]**
**कौसुम्भं [2] भूषणात् [3] स्त्रियः ।**
**तुल्या रतेः [4] श्रिया [5] चेन्दोः [6]**
**पद्मेन [7] च समै मुखैः ॥ १०४ ॥**

नाऽऽसन्नित्यादि । **इन्दो**श्चन्द्रस्य **पद्मेन** कमलेन **च** आह्लादकत्वादारक्तत्वाच्च **समै**स्तुल्यैः **मुखै** र्वदनैः कृत्वा **रतेः** कामप्रियायाः

१-२-३-४-५-६ नानापृथगृतेशब्दयोगे यथायथं तृतीयापञ्चम्यौ ॥१०३॥

१-२-३ विनायोगे यथायथं तृतीया द्वितीया पञ्चमी च । ४-५-६-७ तुल्यार्थैर्योगे यथायथं षष्ठी तृतीया च ॥ १०४ ॥

**श्रिया** लक्ष्म्या च **तुल्याः** सदृश्यः **स्त्रियो** मङ्गलविधौ राजकुले समागता महेभ्यकुलाङ्गना **अङ्गरागेण** विलेपनेन **कौसुम्भं** कुसुम्भरक्त-वस्त्रं **भूषणात्**स्वर्णाद्यलङ्काराच्च **विना** रहिता **नाऽऽसन्** नाऽभूवन् । माङ्गलिकविधौ हि सधवाः स्त्रियः सुवेषा एव क्रियासु व्यापृता भवन्ति ॥ १०४ ॥

**दत्ताः प्रासादं [1] पूर्वेण गोपुरस्या [2] ऽपरेण च ।**
**प्राक्प्रयाणा [3] दुत्सवेन [4] हेतुना कुङ्कुमच्छटाः ॥ १०५ ॥**

दत्ता इत्यादि । **प्रयाणाद्** विजयप्रस्थानात् **प्राक्**पूर्वकाल एव **उत्सवेन हेतुना** उत्सवार्थं **प्रासादं** राजगृहं **पूर्वेण** पूर्वदिशि **गोपुरस्य** पुरद्वारस्य **अपरेण** पश्चिमदिशि **च कुङ्कुमच्छटाः** घुसृण-मिश्राम्बुसेकाः **दत्ता** विहिताः । राजप्रासादस्य पूर्वाऽभिमुखत्वाद् राज-प्रासादद्वारादारभ्य गोपुरं यावत्कुङ्कुमाम्बुसेकः कृत इत्यर्थः । उत्सवे मार्गे कुङ्कुमाम्बुसेको विधीयते ॥ १०५ ॥

**स्नेहाय [1] हेतवे भक्ते [2] र्निमित्तान्मुदि [3] कारणे ।**
**नरेन्द्रदर्शनस्या [4] र्थस्योत्सुकोऽभून्न कस्तदा ॥ १०६ ॥**

स्नेहायेत्यादि । **स्नेहाय हेतवे** प्रेमात्मकहेतोः, **भक्ते र्निमि**

१—२ एनन्तयोगे यथायथं द्वितीया षष्ठी च । ३ एनन्तत्वेऽप्यञ्च-त्यन्तत्वाद् द्वितीयाद्यभावाद् दिग्योगे पञ्चमी । ४ हेत्वर्थे तृतीया ॥ १०५
१—२—३—४ हेत्वर्थे पञ्चमी सप्तमी षष्ठी च ॥ १०६ ॥

त्तात् प्रीतिबहुमानहेतोः, **मुदि कारणे** हर्षनिमित्तं च यत्, **नरेन्द्रदर्शनस्य** नरेन्द्रस्य राज्ञो मूलराजस्य दर्शनमवलोकनं तस्याऽर्थस्य हेतोः **को** जनस्तदा यात्राकाले **उत्सुक** आतुरो **नाऽभूत्** । काक्वा स्नेहाद् भक्ते हर्षलाभाच्च सर्व एव नरेन्द्रदर्शनोत्सुकोऽभूदित्यर्थः ॥ १०६ ॥

**यो [१] हेतु र्वाजिनां हेषा यं [२] हेतुं दन्तिनां मदः ।**
**हेतुनोक्ष्णां ध्वनिर्येना [३] ऽर्थाय यस्मै [४] भटोद्यमः ॥१०७॥**
**सोच्छ्वासा भूर्यतो [५] हेतो र्यस्य [६] हेतोः सुखो मरुत् ।**
**तत्र [७] हेतौ न दूरेण [८] राज्ञोभावी जयो महान् ॥१०८॥ (युग्मम्)**

यो हेतुरित्यादि । **यो हेतु**र्येन हेतुना **वाजिनामश्वानां हेषा** रवः, **यं हेतुं** येन हेतुना **दन्तिनां** गजानां **मदो** दानजलोद्गमः, **येन हेतुना उक्ष्णां** वृषभाणां **ध्वनि** र्निनादः, **यस्मै अर्थाय** येन हेतुना **भटोद्यमः** भटानां योधानामुद्यमः सोत्साहं प्रवृत्तिः, **यतोहेतोः** भूर्भूमिः **सोच्छ्वासा** उच्छ्वासेन वैशद्येन हर्षव्यापारेण च सहिता मनोज्ञदर्शना वा, **यस्य हेतो** र्येन हेतुना **मरु**त्पवनः **सुखः** सुखस्पर्शः, **तत्र हेतौ** तेन हेतुना **राज्ञो** नृपस्य नृपाद्वा **महान्** सर्वशत्रूच्छेदादसदृशो **जयो** विजयः **न दूरेण** आरादेव **भावी** भविष्यति । अश्वादीनां हेषादिना शुभशकुनेन हेतुना प्रस्थानकार्यस्य विजयस्य आरादेव सिद्धिः सूचितेत्यर्थः ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

---

१–२–३–४–५–६–७ हेतुसामानाधिकरण्ये सर्वादेः सर्वा विभक्तयः । ८ असत्त्वे आरादर्थकदूरशब्दात्तृतीयैकवचनम् ।

**अथ दूरेऽपि [1] लोकस्यान्तिके [2] नु तेजसा ज्वलन् ।**
**न दूरा [3] च्छ्रेयसां सिंहासनमध्यास्त भूपतिः ॥ १०९ ॥**

**इतिकलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचितसिद्धहेमशब्दानु-शासनद्व्याश्रयमहाकाव्यद्वितीयतृतीयसर्गत उद्धृत्य सङ्गृहीतः कारकद्व्याश्रयः समाप्तः ।**

अथेत्यादि । **अथ** सैन्यसज्जाद्यनन्तरम्, **तेजसा** प्रतापेन **कान्त्या च ज्वलन्** प्रभावोत्पादकतया विराजमानः, अत एव, **लोकस्य** पुरजनस्य प्रजानां च **दूरेऽपि** सचिवसामन्तादिभिः परिवृतत्वात्सामान्य-जनानां निकटस्थित्यभावात् किञ्चिद्दूरेऽपि स्थितः **अन्तिके नु** समीपस्थ **इव लक्ष्यमाणः**, अपिना दूरस्थस्य समीपस्थत्वेन लक्ष्यता विरुद्धेति **सूच्यते** । समीपस्थतया लक्ष्यत्वे हेतुश्च तेजस्वित्वमित्यविरोधः । **तेजस्वी हि** सूर्यादिरतिदूरस्थोऽपि न तथा दूरस्थो लक्ष्यते इति प्रतीतम् । **भूपति** मूलराजनृपः, **श्रेयसां** रचितानां स्वस्तिकादिमाङ्गलिक्यानां श्रेयःसाधनानां **न दूरा**दारात्स्थितं **सिंहासनं** राजासनम् **अध्यास्ता**ऽधितष्ठौ । यद्वा श्रेयसां मङ्गलानां च न दूरादाराद्वर्त्तमानो भूपतिः सिंहासनमध्यास्तेत्यन्वयः ॥ १०९ ॥

इति कारकद्व्याश्रयकाव्ये श्रीतपोगच्छाधिपति–शासनसम्राट्–

---

१–२–३ असत्त्वे आरादर्थकदूराऽन्तिकशब्दाभ्यां यथायथं सप्तमी पञ्चम्योरेकवचनम् ॥ १०९ ॥

कदम्बगिरितालध्वजराणकपुरकापरडाद्यनेकतीर्थोद्धारकाचार्यवर्य-
श्रीविजयनेमिसूरीश्वर-पट्टालङ्कार-समयज्ञशान्तमूर्त्याचार्यवर्य-
श्रीविजयविज्ञानसूरीश्वर--पट्टधर-सिद्धान्तमहोदधिप्राकृत-
विद्विशारदाचार्यवर्य-श्रीविजयकस्तूरसूरीश्वर-
शिष्यरत्न--प्रख्यात--व्याख्यातृ--कविरत्न-
**पन्यासप्रवरश्रीयशोभद्रविजयगणिवर-**
शिष्य-**पन्यासश्रीशुभङ्करविजयगणि-**
विरचिता--**भद्रङ्करोदयाख्या**
व्याख्या-समाप्ता ।

*** समाप्ता चेयं कारकमाला ***

उद्दध्रे तीर्थगोत्रां प्रवचनदवरै र्जीर्णतापङ्कपन्नां
प्राप्तः सम्राट्पदं सन्मतिसमुपहृतं गौरवाच्छासनस्य ।
बाल्याच्चारित्रपूतः कुमतितिमिरभिद् यस्तपोगच्छसूरो
जातः सूरिःस **नेमि** र्विनतपदकजद्वन्द्व ईशो धरायाः ॥ १ ॥
तत्पट्टाकाशभानु र्भविनलिनवनोद्बोधनिष्णोक्तिभानु-
**र्विज्ञानः** शान्तमूर्त्ति र्जिनसमयसुधापानपुष्टोपलब्धिः ।
तच्छिष्यः प्राकृतज्ञाऽतुलविपुलमतिः ख्यातकीर्तिर्गुणाढ्यः
**कस्तूरो** लोकपूज्यो जयति जगति यः सोऽस्ति सिद्धान्तवार्धिः ॥२॥

आस्ते तच्छिष्यरत्नं निजविशदवचःसर्जनैर्भव्यसङ्घ-
स्वान्तप्रीतिप्रकर्षोपनयनपटुतोपार्जितोच्चैःसमज्ञः ।
पन्यासर्क्षाऽमृतांशुर्गणिविबुधवनीकल्पवृक्षर्द्धिधन्यः
श्रीमान् सारैश्चरित्रैः कविकुलतिलकः सो **यशोभद्र**नामा ॥ ३ ॥

शिष्येष्वन्यतमस्तस्य प्रसादाल्लब्धसन्मतिः ।
**शुभङ्करो** गणिरहं पन्यासपदभागपि ॥ ४ ॥

कृता कारकमालाया मया **सूर्योदया**ऽर्थनात् ।
**भद्रङ्करोदया**ख्येयं व्याख्या लोकोपकारिणी ॥ ५ ॥

ज्ञानतः कारकस्य स्यात्तथा स्याद्व्यवहारतः ।
लाभो जिज्ञासुवृन्दस्य सफलो मेऽत्र तच्छ्रमः ॥ ६ ॥

अश्वचन्द्राऽभ्रनयने वैक्रमाब्दे समापिता ।
बेंगलोरुपुरे सेयं तपःपूर्णाकुजे कृतिः ॥ ७ ॥

॥ श्रीरस्तु । शुभं भवतु ॥

जयतु भद्रङ्करोदयः

श्री यशोभद्र श्रेणी